मेरी आत्म-कथा

रवीन्द्रनाथ टैगोर

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

लेखक : रवीन्द्रनाथ टैगोर
अनुवादक : आचार्य उमेश शास्त्री
प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर
मुद्रक : एलोरा प्रिन्टर्स, पं. शिवदीनजी का रास्ता, जयपुर
संस्करण : 1987
मूल्य : पैंतालीस रुपये

MERI ATMA KATHA by Ravindranath Tagore Price : Rs. 45/-

क्रम-सूची

प्राक्कथन

आत्मकथा जीवन का सत्यान्वेषण है, कल्पना के अवकाश की कोरी उडान नही है। आम आदमी का जीवन प्रेरणास्पद नही हो सकता, महान् व्यक्तियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व आम आदमी के लिए दिशाबोध का काम करता है; उनके जीवन के आदर्शनिष्ठ मूल्यो को स्वीकार करता हुआ उस पथ पर अपने आपको ढालने का प्रयास करता है। आत्मकथा-सत्य एवं स्पष्टवादिता को लेकर चलती है, अतः हर आदमी के लिए सम्भव भी नही है कि वह इस दिशा में कदम उठाने का अधिकारी हो, लेकिन सर्वसाधारण के लिए यह आवश्यक है कि वह महापुरुषों की जीवनी एवं आत्मकथाओं का गम्भीर अध्ययन कर प्रेरणा प्राप्त करे। विश्व के महान व्यक्ति अपने त्याग, उदारता और सेवा के कारण जन मानस पर अमिट छाप छोड़ सके, ऐसे महापुरुष एक देश में जन्म लेने पर भी किसी एक ही देश की निधि नहीं कहला सकते अपितु समस्त विश्व के लिए आदर्श एवं उदाहरणीय होते है। भारतवर्ष मे जन्म लेने वाले महापुरुषों में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, व महर्षि अरविन्द आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं—उनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने अपने सुलझे चिन्तन के माध्यम से विश्व को दर्शन क्षेत्र में एक नई दिशा प्रदान कर विश्व-कवि होने का गौरव प्राप्त किया। 'गीतांजली' पढ कर विश्व जनीन प्रबुद्धवर्ग अचम्भित रह गया और संसार का प्रख्यात पुरस्कार 'नोबुल पुरस्कार' इस कृति पर प्रदान किया गया जिससे भारतीय साहित्यकारों की ही प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी अपितु समूचा राष्ट्र व विश्व का साहित्यकार गौरवान्वित हुआ। महाकवि रवीन्द्र इस राष्ट्र की महान आत्मा कहलाने लगे। यह सब कुछ उनके मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपालन कहा जायेगा। कवि का मुख्य प्रयोजन 'यश से' कहा गया है, लेकिन भारतीय कवि ने 'यश' को प्राप्त कर अपना अहोभाग्य कभी सिद्ध नही किया। इसी परम्परा में रवीन्द्र ठाकुर भी रहे। जब उन्हें नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ तो समूचा राष्ट्र हर्ष मना रहा था किन्तु रवीन्द्र बाबू उद्विग्न थे। उस समय उनके मुख से ये शब्द निकले 'they have

taken away my cafuge' अर्थात इन लोगों ने तो मेरी शान्ति छीन ली । इस बात से यह सिद्ध हो जाता है कि रवि बाबू अपने जीवन में सदा शान्ति और एकान्त-प्रियता के साथ तटस्थ जीवन जीते हुए अपने पिता महर्षि देवेन्द्र नाथ के आदेशों की परिपालना में व्यस्त रहना चाहते थे ।

रवि बाबू ने अपनी इस आत्मकथा में अपने परिवार एवं शैशवास्था का पूर्व वर्णन दिया है—एक सम्पन्न परिवार में जो राजर्षि की अपेक्षा महर्षि कहलाना अधिक पसन्द करता था, जन्म हुआ और ऐसे समृद्ध घराने में भारतीय संस्कृति के सूत्र जीवित थे, यह सौभाग्य की बात है । रवि बाबू अपने सात भाईयों से सबसे छोटे थे तथा प्रकृति मे सभी से अलग । घर की भीड़ भरे वातावरण से विलग रह कर एकांत साधना मे व्यस्त आनन्दित रहने वाले रवि बाबू स्कूली शिक्षा को पसन्द नही करते थे । अपनी बाल्यावस्था के अनेक मनोरम संस्मरण इस आत्मकथा में लिखे हैं जो भावी पीढी के लिए प्रगति के सोपान सिद्ध होते है । रवि बाबू अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य के आदेश को अपना धर्म समझ कर स्वीकार करते थे । नौकर चाकरों तक की बात को टालना इनके वश की बात न थी । एक बार एक नौकर ने इनको एक स्थान पर बैठा कर एक लक्ष्मण रेखा खींच दी और कहा "यहीं बैठे रहो जब तक मैं न आऊं" रवि बाबू उसके आदेश को स्वीकार करते हुए वहीं जमे रहे, न हिले न डुले, न खाना ही न पानी ही । रवि बाबू का बचपन सुखद नहीं कहा जा सकता है । बचपन में माता की स्निग्ध छाया दूर हो गई थी और पिता के द्वारा भी वांछित प्रेम न मिल सका । रवि बाबू के दो ही व्यसन थे, प्रथम विविध भाषाओं के ग्रंथों का अध्ययन और दूसरा एकांत के क्षणों में प्रकृति के मनोहर दृश्यों को हृदय में उतारना । इन्हें प्रकृति दर्शन में आनन्दित हो खो जाने की आदत बन गई थी ।

युवावस्था में विद्यापति, चण्डीदास आदि कवियों का अनुकरण करते हुए अपने काव्य सृजन की यात्रा आरम्भ की । सर्व प्रथम प्रभात संगीत, और उसके बाद संध्या संगीत के नाम से दो कविता–संग्रह प्रकाशित हुए । गंगा नदी के प्रशांत तट पर रहते हुए इन्होंने लम्बी साहित्य साधना की । प्राय: 17 वर्ष में 20 से अधिक कृतियों का निर्माण यहीं पर हुआ । साहित्य-साधना में जितने लीन रहते थे उससे अधिक दीन-दु:खी व पिछड़े समाज की सेवा करने में आनन्द अनुभव करते थे । मानव की सेवा ही मुख्य धर्म था और यही जीवन का उद्देश्य । सर्वहारा वर्ग किसान एवं मजदूरों में देवता की तरह इनका सम्मान था । किसानों के हितों की रक्षा के लिए ब्रितानी सरकार तक से संघर्ष किया और उस कारण बागी तक कहलाये ।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसानों के हितों की रक्षा करने से पूर्व रवि बाबू स्वयं किसान के सादा जीवन की तरह सरल जीवन जीने के आदी हो चले थे, समृद्धि और ठाठ-बाट की ओर से अनासक्त हो गये थे।

रवि बाबू परिवार की दृष्टि से सदा विपन्नावस्था में रहे। हमेशा एक न एक परिस्थिति आक्रान्त करती रही। पत्नी का देहान्त हो गया, फिर एक लड़की का स्वर्गवास हो गया, कुछ दिनों बाद सबसे छोटा लड़का भी चल बसा। इन सभी घटनाओं से रवि बाबू अत्यन्त दुखी हो गये। इसके बाद उन्होंने कृषि क्षेत्र में कुछ नये अनुभवों को प्राप्त करने की दृष्टि से पश्चिमी देशों की यात्रा की, वहां इनके ग्रंथों में से कुछ का विदेशी भाषाओं मे अनुवाद हुआ और इन्हें नोबुल पुरष्कार प्राप्त हुआ—इसके बाद तो इनकी अनेक कृतिया मुद्रित होने लगी और रायल्टी के रूप में काफी आय होने लगी। इन्होंने पुरष्कार एवं रायल्टी की समस्त आय को 'शान्ति-निकेतन' की स्थापना में लगादी–जो आज रवि बाबू का प्रतीक है। रवि बाबू का महान त्याग रहा है कि ब्रितानी सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन के दौरान उस महान गौरव नोबुल पुरष्कार को लौटा दिया और वाइसराय के विरुद्ध एक कडा पत्र लिखा। शान्तिनिकेतन की स्थापना का मुख्य लक्ष्य प्राचीन भारत की आदर्शनिष्ठ शिक्षा प्रणाली–ऋषि कुल परम्परा की पुनःस्थापना रहा–जहां विद्यार्थी योग्यता के साथ जीवन का निर्माण करता हुआ राष्ट्र की सम्पत्ति बन सके। यह एक महान यज्ञ था जो रवि बाबू ने अपने जीवन में पूर्ण किया।

इन्होंने काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास व निबन्ध आदि बहुत कुछ लिखा है। इन ग्रंथों मे भारतीय संस्कृति और सर्वहारा वर्ग की विषमताओं का स्पष्ट चित्रण है। इनके पात्र सजीव और भारतीयता के प्रतीक है। गीतांजली इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है जो भारतीय दर्शन के चरम लक्ष्य की ओर प्रेरित करती है। गीताजंली में प्रार्थना करते हुए कवि लिखता है—

आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार
चरण धूलार तले,
सकल अहंकार, आमार हे डोबा ऊ,
चोखेर जले ॥

अपने सम्पूर्ण अहंकार आदि अपने आपको समर्पित कर परम सत्ता में लय की स्थिति व्यक्त कर देना सहज बात नहीं हो सकती है। रवि बाबू एक महान संत, महा-कवि व महान लेखक रहे, इसे कभी अस्वीकार नही किया जा सकता। इनका सरल

जीवन, आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व, अनुपम त्याग, महान उदारता, दलित के प्रति सेवा-भाव सदा सराहनीय रहेगा। इनका अपना निजी चिन्तन दूसरों का अनुकरण न कर सका। सहज में ये दूसरों के विचारों अथवा सामयिक वाद से प्रभावित न होते थे। रवि बाबू ने अपनी इस आत्मकथा में स्वयं की लेखनी से जीवन के मनोरम संस्मरण उतारे हैं। यह कृति पाठकों के लिए वरदान सिद्ध होगी। चरित्र निर्माण में इसका महान योगदान सिद्ध हो सकेगा। यही कारण है कि इस दुर्लभ पुस्तक का प्रकाशन करने में हम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। प्रस्तुत संस्करण बच्चों को सहज समझ में आ जाय, सरलीकरण के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। अनेक कठिन प्रसंगों को सीधे-सादे वाक्यों में यहां दिया गया है।

—प्रकाशक

प्रारम्भ

हम तीन बच्चो का लालन-पालन एक साथ ही होता था। मेरे साथी मुझसे दो साल बडे थे। इन्हें पढाने के लिए एक गुरुजी को रखा गया। इन दोनों के साथ ही मेरी पढाई भी शुरू हुई। लेकिन् मैंने क्या पढा ? यह मुझे बिलकुल याद नही है। हा, सिर्फ एक वाक्य मुझे बार-बार याद आता है कि—

"पानी रिमझिम-रिमझिम पडता है, झाडो के पत्ते हिलते है।" दो शब्दो का पाठ मैं सीख चुका था और आदिकवि की यह पहली कविता "पानी रिमझिम-रिमझिम" पढा करता था। जब-जब उन दिनो के आनन्द की मुझे याद आती है तब-तब मैं शब्दों के दुहराने की इतनी जरूरत क्यों है ? यह मेरे दिमाग में आती है। दुहराने मे एक तरह से शब्द का अन्त हो जाता है और दूसरी तरह से नही होता है। यानी कि शब्द का बोलना तो पूरा हो जाता है लेकिन उसका बाद घूमता रहता है, और कान व मन मे दोहराना रूपी गेंद को एक दूसरे की ओर फेंकने की शरियत मानों लग जाती है। इसीलिए ऊपर बतलाई हुई कविता के शब्द दिन-दिन भर मेरे कान के आगे गूंजते रहते थे।

बूढ़ा जमादार

मेरी बहुत छोटी उम्र की एक बात मुझे भली भांति याद है कि हमारे यहा एक बूढा जमादार था। उसका नाम कैलाश था। वह हमारे यहां परिवार के सदस्य की तरह ही माना जाता था। वह बडा मजाकिया था। छोटे से बडों तक सभी की मजाक उड़ाता था। खासतौर पर नये शादी शुदा जमाई या घर में आने वाले नये आदमियो को खूब छकाता था। लोगों का यह मानता था कि मरने के बाद भी कैलाश की यह आदत नही छूटी। उनके विश्वास का कारण भी था। वह यह कि एक दफा हमारे परिवार मे 'प्लन्चेट' नामक यन्त्र द्वारा मरे हुए आदमियों से चिट्ठी-पत्री करने का काम बहुत जोर पकड गया था। एक दिन इस पैंसिल के द्वारा कैलाश नाम लिखा गया। तब कैलाश से पूछा गया कि परलोक की जिन्दगी कैसी है ? प्लन्चेन्ट की पेन्सिल ने जवाब मे लिखा कि मैं तुम्हे बिलकुल नहीं बतलाऊंगा। भला, जिसे जानने के लिए मुझे खुद को मरना पडा, वह मैं तुमको मुफ्त कैसे बतलाऊंगा।

मुझे खुश करने के लिए कैलाश एक हल्के दर्जे का गाना जोर-जोर से गाया करता था। यह गाना उसी ने बनाया था। इस कविता का नायक मैं था और

नायिका के आने की आशा बडी खूबसूरती के साथ पेश की थी। गाने में उस नायिका की सुन्दर तस्वीर खिंच गई थी। आने वाले दिनो के चमचमाते सिंहासन पर बैठने वाली, जगत् को लुभाने वाली उस कुमारी का वर्णन सुन कर मेरा मन उस ओर जुड जाया करता था। उसमें नायिक के सिर से पैर तक रतनो से जड़े गहनों का और मेरी शादी के उत्सव की तैयारी की अनोखी शोभा का वर्णन था। उसने मेरा ही नही, मुझसे बडी उम्र वाले चतुर आदमी का दिमाग भी घूम सकता था। लेकिन मेरे बालमन के खिचने और भीतर ही भीतर आनन्ददायक चित्रों के घूमने का कारण सिर्फ उस गीत के यमको (दुहराना) की मीठी आवाज और उसके ताल का आन्दोलक ही था। कविता के आनन्द के यह दो प्रसग और 'पानी रिमझिम-रिमझिम पडता है, नदी मे पूर आता है', इस तरह के बच्चों को अच्छे लगने वाले बाल-साहित्य की कविताए आज भी दिमाग मे तरोताजा हैं।

मेरी बहन का लड़का : सत्य

इसके बाद मुझे जो बात याद है वह मेरे स्कूल जाने की बात है।

मेरी बहिन का लड़का 'सत्य' मुझसे उम्र में कुछ बड़ा था। एक दिन मेरे बड़े भाई को और उसे स्कूल जाते हुए मैंने देखा। मुझे स्कूल जाने के काबिल न मान कर वे दोनो चले गये। इसके पहले मैं कभी गाड़ी में नहीं बैठा था और न घर के बाहर ही गया था। इसलिए सत्य ने घर मे आने पर खूब नमक-मिर्च लगाकर रास्ते के अपने हिम्मत भरे कार्यों का वर्णन किया। वह सुनने पर मुझे अब अपना घर मे रहना भारी लगने लगा। मेरे पाठशाला जाने के बहम को दूर करने के लिए मेरे मास्टर जी ने मुझे एक थप्पड मारते हुए कहा—अभी तो स्कूल जाने के लिए रोया है लेकिन फिर स्कूल से छुट्टी पाने के लिए इससे भी ज्यादह रोयेगा। उस मास्टरजी का नाम, चेहरा और स्वभाव की मुझे कुछ भी याद नही है, लेकिन उसका जोरदार उपदेश और उससे भी ज्यादह जोरदार थप्पड़ मुझे आज तक याद है। मास्टरजी ने जो भविष्य कहा था, वह जितना ठीक उतरा, उतना ठीक भविष्य मेरी जिन्दगी मे दूसरा कोई नहीं उतरा।

मेरे रोने का यह नतीजा हुआ कि मुझे बहुत ही छोटी उम्र मे प्राचीन विद्यालय मे जाना पडा। वहा मैंने क्या पढ़ा? यह मुझे कुछ भी याद नही है, लेकिन वहा बच्चो को सजा देने के जो तरीके थे, उनमें से एक अभी तक मेरे ध्यान में है। वह तरीका यह था कि जो बच्चा अपना पाठ नही सुना सकता था, उसे हाथ आगे कर बैंच पर खड़ा करते थे और उसकी हथेलियो पर पट्टियो का ढेर लगाते थे। इस तरह की सजाओ का उपयोग बालको के मन की ग्रहण-शक्ति को बढाने में कहां तक उचित है? इसका विचार मानस-शास्त्र के विद्वान ही कर सकते हैं। यह मेरा विषय नही है। खैर, इस तरह बहुत कोमल उम्र मे मेरे अक्षर ज्ञान की शुरुआत हुई।

उस समय नौकर लोगों में जो किताबें चला करती थीं, उन्ही के द्वारा मेरे साहित्य के अभ्यास का आरम्भ हुआ। उनमें से चाणक्य के सूत्रों का बंगाली अनुवाद और कृत्तिवास की रामायण ये दो किताबें खास थीं। रामायण बांचने के एक प्रसग मुझे आज भी याद है।

उस दिन आसमान बादलों से ढका हुआ था। रास्ते के पास वाले बड़े बरामदे में मैं खेल रहा था। यहां मुझे किसी भी तरह से डराने की सत्य को इच्छा हुई और वह पुलिस! पुलिस!! पुकारता हुआ मेरे पास आया। उस वक्त पुलिस के कामों के बारे में मेरी विचारधारा साफ थी। केवल एक बात पर मेरा भरोसा था कि गुनाह करने वाले आदमी को पुलिस के सुपुर्द करने पर फिर उसका सत्यानाश हो जाता है। जिस तरह मगर के जबड़ों में फंसे हुए दुर्भाग्यशाली आदमी की दशा होती है, उसी तरह पुलिस के जाल में फसे हुए की होती है। फौजदारी कायदे के चगुल से किस तरह छुटकारा हो सकता है? भला इसे मेरे समान अबोध बच्चा कैसे जान सकता था। इसलिए पुलिस! पुलिस!! का स्वर सुनते ही मैं घर के भीतर भागा और मा से अपनी आफत की बात कही। लेकिन मा के कुछ भी असर न हुआ, वह पूरी तरह शान्त रही, इससे मुझे धीरज बधा। तो भी मुझे बाहर जाने का साहस नही हुआ। अतः मां की मौसी के रंगे हुए पुट्ठे और मुडे हुए पन्नों की रामायण की किताब, जो वहा ही रखी थी—लेकर मैं मा की कोठरी की देहरी पर बैठकर पढ़ने लगा। भीतर के चौक के चारो ओर बरामदा था। इस बरामदे के पास यह कोठरी थी। आसमान बादलो से ढका हुआ था और तीसरे पहर का मद्धिम उजाला यहां पड़ रहा था। रामायण में एक दुःख भरे प्रसंग का वर्णन मैं पढने लगा। बाचते-बाचते हुए रोना आ गया। मा ने यह देखकर वह किताब मेरे हाथ से छीन ली।

□

बचपन

हमारे बचपन के समय प्रायः बहुत से लोगों को शान-शौकत नहीं मालूम थी। उस वक्त का रहन-महन बहुत सादा था। शान-शौकत और ऐश-आराम का सवाल एक ओर रख देने पर भी आज जो बच्चों की बेकार चिंता और देखभाल रखने की परम्परा रही है, उससे हमारे घर के बच्चे पूरी तरह से अनजान थे। उन्हें इन बातों की महक भी नहीं थी। सचाई इस तरह है कि बच्चों की देखरेख रखने में पालन करने वालों को भले ही सुख मालूम हो, पर बच्चों को तो उसमें केवल पीड़ा ही होती है।

हमें नौकरों की देखरेख में रहना पड़ता था। अपना कष्ट बचाने के लिए उन लोगों ने हमारा स्वाभाविक मनमाना अधिकार प्रायः अपनी मुट्ठी में ले रखा था। दूसरी ओर बेकार का लाड़-प्यार बार-बार खाने, पीने, दिन भर कपड़ा पहनने से हम मुक्त थे। इस तरह एक की कमी दूसरा पूरी करता था।

हमारे खाने में प्रायः पकवान बिलकुल नहीं होते थे, और हमारे कपड़ों की सूची यदि देखी जाय तो आजकल के बच्चे नाक-भौंह सिकोड़े बिना न रहेंगे। दस साल की उम्र होने के पहले किसी भी कारण से हमने मोजे और बूट नहीं पहिने। सर्दियों में भी बंडी के ऊपर एक सूती कुरता पहन लिया कि बस हुआ और उससे हमें अपनी गरीबी भी नहीं मालूम होती थी। हां हमारा बूढ़ा दर्जी 'स्यामत' अगर बंडी में खीसा लगाने को भूल जाता था तो उससे हमारा मिजाज जरूर बिगड़ जाता था। खीसे में खूब भरने के लिये जिसे कोई चीज न मिली हो, इतना गरीब बच्चा आज तक एक भी पैदा नहीं हुआ होगा। दयालु भगवान का इशारा यही मालूम होता है कि पैसे वालों के बच्चों और गरीब मा बाप के बालकों की सम्पत्ति में बहुत ज्यादा फर्क न रहे। हममें से हरेक बच्चे को 'चप्पल' की एक जोड़ी मिलती थी लेकिन यह भरोसा नहीं था कि वह हमेशा पावों में ही रहेगी क्योंकि हम उसे पावों से ऊपर फेंकते और झेला करते थे। हमारे इस रिवाज से चप्पलों का वास्तविक उपयोग नहीं होता था, तो भी उन्हें कम काम नहीं पड़ता था।

पहिनावा, खाना-पीना, रहन सहन, व्यापार, बातचीत और मनोरंजन में हमारे बूढ़े लोगों में और हममें बहुत बड़ा फर्क था। बीच-बीच में उनके काम हमें दिखलाई पड़ जाते थे, लेकिन वे हमारी ताकत के बाहर होते थे। आजकल के बच्चों के लिये तो उनके मां-बाप आदि बड़ी सहज में मिलने वाली वस्तु सी हो गई है और उन्हें वे मिल भी जाती है। ज्यादा क्या? यह कहना भी ठीक होगा

कि आजकल बच्चों को मनचाही चीज आसानी से मिल जाती है, लेकिन हमारे जमाने में कोई भी चीज इतनी आसान नही थी। हल्की से हल्की चीज भी हमारे लिए मुश्किल थी। हम लोग इसी भरोसे अपने दिन निकालते थे, कि बड़े होने पर हमें ये सब मिलेंगी। भरोसा था कि आने वाले दिन इन सब चीजो को हमारे लिए संभाल कर रखेंगे। इसका नतीजा यह होता था कि हमें जो कुछ भी मिलता था वह चाहे थोडा ही क्यो न हो, उसका हम खूब उपयोग करते थे और उसका कोई हिस्सा भी यो नही जाने देते थे। आजकल तो परिवार खाने-पीने से सुखी है उनके लडकों को देखो तो मालूम होगा कि जो चीजें उन्हे मिलती हैं उनमें से आधी चीजे तो सिर्फ बेकार ही खो देते है। और इस तरह उनकी पूंजी के बहुत बडे हिस्से का होना न होने के बराबर होता है।

बाहर के दालान के एक कोने मे नौकरो के लिए जगह थी। हमारा बहुत सा वक्त उसी जगह जाता था। हमारा एक नौकर शरीर से भरा हुआ, काले रग का था और लड़के के जैसा था। इसका नाम 'शाम' था। इसके बाल घूंघर वाले थे। यह खुलना जिले का रहने वाला था। यह एक जगह नियत कर वहाँ मुझे बैठा देता था और मेरे पास रेखा खीचकर बड़ी गम्भीर आवाज़ से उंगली दिखाकर धमकाता था कि खबरदार, इस लकीर से बाहर मत जाना। मैं अच्छी तरह यह कभी न समझ पाया कि मेरी यह आफत कैसी है? मुझे इसका डर बहुत ज्यादा लगता था। लक्ष्मण की खीची हुई रेखा के बाहर जाने से सीता को जो दुख: भोगना पडा, वह मैंने रामायण बांचा था। इस कारण 'शाम' की खीची हुई रेखा की ताकत के बारे मे भी मुझे किसी तरह का शक भला कैसे हो सकता था?

नौकरो की इस कोठरी की खिड़की के नीचे पानी का हौज था। जिसमे पानी की सतह तक पत्थर की सीढियां लगी हुई थीं। इसके पश्चिम की ओर बाग की दीवाल के पास एक बहुत घना बड़ का पेड़ था, और दक्षिण की ओर नारियल के पेडो की कतार खडी थी। मेरे लिए नियत की हुई जगह इसी खिड़की के पास होने से मैं खिड़की मे से उस दृश्य को एक तस्वीरो की किताब की तरह दिन भर देखा करता था। हमारे अड़ोसी-पड़ोसी सुबह होते ही वहाँ नहाने आया करते थे। हरेक के आने का वक्त मुझे मालूम था और हरेक के पहिराव-उढाव का ढंग भी मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया था। कोई तो वहाँ आकर कानों में उंगली डालकर गोता लगाता और किसी को पानी मे सिर डुबोने तक की हिम्मत नही होती थी इसीलिये वह अपना अंगोछा पानी मे भिगोकर उससे अपने शरीर को पोछकर ही नहा लिया करता था। कोई आता तो पानी पर लेटने लगता और कोई पानी की सीढी पर से ही पानी मे कूद पड़ता था। एक प्रार्थना पढता हुआ आता और एक-एक सीढी नीचे उतरता। दूसरा हमेशा जल्दी में रहता था, आया

गोता मारा, कपड़े पहिने और चला घर को। तीसरा एक ऐसा आदमी वहां आता था जिसे जल्दी करना शायद मालूम ही न था। धीरे-धीरे आप आते, अंग को खूब रगड़-रगड़ कर साफ करते और फिर नहा कर साफ कपड़े और वह भी बहुत ठहर-ठहर कर पहिनते थे। फिर धोती वगैरह खूब पछाड़ते और बड़ी चतुराई से उसकी घड़ी कर आप बगीचे मे आते, वही कुछ देर टहलते और फूलों को बीनते थे, बड़ी सफाई और ताजगी के साथ आप घर जाते थे। दोपहर तक यही झमेला चला करता था, दोपहर के बाद उस जगह पर चैन होता और सिर्फ बतखें वहा तैरा करती और अपनी चों-चो मे पखो को साफ करती थी तथा गोकुल गायों का पीछा करती थी।

इस तरह जब पानी ठहर जाता तब मेरा ध्यान उस घने बड़ के पेड़ की छाया की ओर लगता था। इस पेड की लटकती हुई लम्बी-लम्बी टहनियां पेड़ के तने से इस तरह लिपट गई थी कि उनका जाल-सा बन गया था। उस घने स्थान मे मानो संसार के कानून-कायदो का नाम हो न हो, और यह मालूम होता था कि मानो पुराने समय के सपने के समान साफ मालूम होने वाली धरती विधाता की निगाहें चुराकर आज के जमाने के उजाले में वहां टिकी हुई है। वहां मुझे कौन-कौन, क्या-क्या करते हुए दीखते थे, इसका वर्णन थोडे से शब्दों में करना मुश्किल है। आगे जाकर मैने इसी बड़ के पेड पर एक कविता भी लिखी थी।

हाय ! अब वह बड का पेड़ कहा है ? अब बड का पेड भी नही है और न उस जगल की परछाई को बताने वाला वह हौज ही है। बड के पेड़ की छाया के समान वहा नहाने वाले बहुत मे आदमी भी खो गये हैं और वह बच्चा (रवीन्द्र बाबू) अब बड़ा होकर अपने ही द्वारा फैलाई उलझनों के जाल मे से दिखने वाली उजालों की छाया के बदलावो की गिनती कर रहा है।

घर से बाहर जाने की हमे मनाई थी। यहां तक कि घर मे भी चारों ओर फिरने की हमे इजाजत न थी। इस तरह की बन्दिशों मे मे ही हमे संसार की सुन्दरता को देखना पड़ता था। बाहरी संसार का रूप, असीमित वस्तु, मेरी समझ के बाहर की बात थी। उसकी आवाज तथा उसकी परिमल डोरी बन्दिश के छेदो मे पल भर के लिए मेरे पास आती और मुझसे भेंट कर चली जाती थी। मुझे मालूम होता था कि मानों वह कई तरह की हरकतें कर बन्धन के सीकचो मे से मुझसे खेलने की इच्छा करती है। लेकिन यह बाहरी दुनिया आजाद थी और मैं बन्दिश में था। एक दूसरे से मिलने का हमें कोई रास्ता ही नही था और इस कारण मुझे उसका मोह भी ज्यादा होता था। लेकिन उसका उपयोग ही क्या ? आज यद्यपि 'शाम' के द्वारा खींची हुई वह खड़ी की रेखा पुछ गई है, तो भी मर्यादा रचने वाले मडल आज ज्यो के त्यो बने हुए हैं। दूर की वस्तु आज उतनी ही दूर

है, बाहरी दुनिया आज मेरी सामर्थ्य से पीछे है। इस बारे मे बड़े हो जाने पर मैंने जो कविता रची थी वह मुझे इस समय भी याद है।

हमारी गच्ची का कठड़ा मेरे सिर से भी ऊंचा था। कुछ सालों बाद मैं भी ऊंचा हो गया। अब नौकरो का अत्याचार ढीला पडा। घर मे एक नई विवाहिता वहु आई। जिससे खाली समय साथी के नाते चार बातें करने का मौका मिला। उन दिनो दुपहरी के समय मैं कभी-कभी गच्ची पर जाया करता था। उस समय घर के सभी लोग खाना खा चुकते थे। सब लोगों को घर काम से छुट्टी मिल जाती थी। जनान खाने में इस समय सब लोगों के लेटने का समय होने से शान्ति रहती थी कठड़े पर कपड़े सूखने को लटका दिये जाते थे। आंगन के एक कोने मे पड़ी हुई जूठन पर कौवे टूटते रहते थे। इस शान्त समय मे पीजरे के पंछी कठड़े की संधि में से आजाद पंछियो के साथ चोंच से चोंच लगाकर अपने मन की बातें किया करते थे।

जब मैं वहा खड़ा होकर इधर-उधर देखने लगता तो पहले अपने घर के बाग के उस कोने पर की नारियल के पेड़ो की कतार पर मेरी निगाह पड़ती थी। इस कतार में से 'बाग' व उसमें बने हुए झोंपड़े व हौज के पास वाला हमारी 'तारा' ग्वालियर का घर दिखलाई पड़ता था। इस दृश्य की उस ओर कलकत्ता शहर के अलग-अलग ऊंचाई तथा आकार के कच्ची वाले घर भी दिखलाई पड़ते थे। जिनके बीच बीच मे सिर उठाए हुए पेड़ो की चोटिया पूरबी क्षितिज के कुछ नीले और कुछ भूरे रग मे डूबी हुई दिखाई देती थी। उन पर दुपहरी की धूप का चमचमाता उजाला भी पड़ता और उससे कुछ उनका रग भी बदलता दिखलाई पड़ता था। उन बहुत दूर के घरो के आगे की गच्चियो पर ऊपर से ढके हुए जीने ऐसे मालूम पड़ते थे मानो वे घर मुझे अपनी पहली अंगुली दिखाकर आंखें मिचकाते हुए भीतरी रहस्य का पता दे रहे हो।

जिस तरह एक भिखारी राजमहल के सामने खड़ा होकर यह खयाल करता है कि इस महल के भण्डार घर में कुवेर का धन जमा और सुरक्षित है, उसी तरह इन अनजान घरो मे मुझे तो आजादी लीला का धन भरा हुआ मालूम होता था, उसका खयाल भी मैं न करता था। उस समय पर सिर पर सूरज के तपते रहने पर भी आकाश में खूब ऊंचाई पर चीलें उड़ा करती थी। जिनकी कानों में कड़वाहट भरने वाली आवाजें मेरे कानो के पर्दों को हिला देती थी। बाग से लगी हुई गली से सूने और चुप्प घरो के आगे से फेरी लगाने वाले 'मनिहार' की चूड़ियां लो चूड़िया की दुपहरी की नीद को तोड़ने वाली आवाज भी मुझे सुनाई देती थी। इन सब बातो से मेरी आत्मा नीरस संसार से दूर उड़ जाती थी।

मेरे पिता घर पर बहुत कम कभी कभी रहते थे। वे हमेशा दौरा ही करते रहते थे। तीसरी मजिल पर उनके सोने बैठने के कमरे थे। मैं ऊपर जाकर

खिडकियों के छिकड मे मे हाथ डालकर दरवाजे की चिटकनी खोल लेता था और दाहिने कोने पर उनकी जो कोच पड़ी हुई थी उस पर शाम तक पडा रहता था। उस कमरे के बद रहने व उसमें मेरे छिपकर घुसने से उस छिपने की छटा विशेष मालूम होती थी। दाहिनी ओर की चौडी और सूनी गच्ची को सूरज की किरणों में गर्म होती हुई देखते हुए मैं अपने मन के राज में डूबा हुआ वहा बैठा रहता था।

उसके सिवाय मन को खीचने वाली और भी एक बात थी। वह यह कि उन दिनों कलकत्ते में पानी के नल कुछ दिनों से ही शुरू हुए थे और नल के पहली दफा आने के बारे में अफसरों को जो जीत की खुशी होती थी उस कारण उन्होंने पानी की इतनी रेल पेल करदी थी कि हिन्दू लोगों की बस्ती में भी पानी की कमी नहीं रही थी। नल के उस पहले-पहले आने में पानी मेरे पिता के उक्त कमरे तक ऊपर पहुचता था। इसलिये चाहे जब फौव्वारे की टोंटी खोलकर चाहे जब तक उसके नीचे मैं खडा रहता था। यह सब मैं उनमे होने वाले आराम के लिए नहीं करता था। लेकिन सिर्फ खयालो के अनुसार मेरी मंशा को आजादी से घूमने देने के लिये करता था। उस वक्त पहले पल में तो आजादी का सुख मिलता था, पर साथ ही दूसरे पल में यह डर पैदा हो जाता था कि यदि कोई देख लेगा तो क्या होगा? इन दोनों कारणों से उस फौव्वारे के पानी द्वारा मेरे शरीर मे आनन्द के रोंगटे खडे हो जाया करते थे। बाहरी दुनिया से ख्यालात बहुत कम होने के कारण ही इन कामों से सम्बन्ध होता था और इसलिए उक्त कामो मे होने वाले आनन्द का प्रवाह भी तेज होता था। जब सुविधाएं भरपूर होती है तो मन भी धीमा हो जाता है। मन यह भूल जाता है कि आनन्द का पूरा उपयोग मिलने वाले काम में बाहरी सामग्री के बनिस्पत भीतरी सामग्री का महत्त्व विशेष होता है और आदमी के बचपन में खास तौर से उसे यही पाठ सिखाया जाता है। बचपन में उसके स्वामित्व की चीजे थोडी और तुच्छ होती है, तो भी सुख मिलने के रूप में उसे ज्यादा चीजों की जरूरत नहीं मालूम होती है। जो अभागा बच्चा खेलने की अनगिन चीजों के बोझ में दब जाता है उसे उन चीजों से कुछ भी नहीं मिलता।

हमारे घर के भीतर के बाग को बाग कहना बढकर कहना होगा क्योंकि उसमें सिर्फ एक रेड का पेड, मुनक्का अंगूर की दो जातियों की दो बेलें और नारियल के पेड़ों की एक कतार भी थी। बीच में गोलाकार फर्शी जडी हुई थी, जिसमे जगह जगह दरारें भी पड़ गई थी, घास व छोटे छोटे पौधे भी उग आये थे, जो चारो तरफ फैल गये थे और फूलो के पेड उसमें वही बचे थे जिन्होने मानो यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो जाय, हम नहीं मरेंगे वे अपना वचन इतनी लगन के साथ निभा रहे थे कि माली पर भी उनकी फिक्र न करने का गुनाह का आरोप करने का मौका ही नहीं मिलता था। इस बाग के उत्तरी कोने मे धान काटने के लिए एक

छप्पर था। इस जगह जरूरत पड़ने पर भीतर के आदमी इकट्ठे होते थे। गांव के रहन-सहन का यह आखिरी बचा भाग आजकल हारा हुआ शर्म से किसी को मालूम न होते हुए भी नष्ट हो गया है।

यद्यपि मेरे बगीचे की यह दशा थी, तो भी मुझे यह मालूम होता था कि कि 'एड्म' का नन्दन वन भी हमारे बगीचे की बनिस्पत अधिक अच्छा नही होगा क्योंकि एड्म और उसके बाग दोनों ही दिगम्बर थे। उन्हें बाहरी चीजों की जरूरत ही नही थी। ज्ञान वृक्ष का फल खाने के बाद ही मनुष्य जाति के बाहरी साधनों और भूषणों की बढोतरी होती है और वह बढोतरी ज्ञान फल के पूरी तरह पच जाने तक ही होती रहेगी। हमारा यह घर के भीतर का हिस्सा मेरा नन्दन वन ही था और वह मेरे लायक ठीक भी था। बरसात में सुबह के वक्त जागते ही इस बाग की ओर मैं किस तरह भागता था, यह मुझे आज भी याद है। मैं इधर से दौड़ता जाता था और उधर मे ओस की घटी से शोभित घास व पत्तो की महक मुझसे भेंट करने आती थी। इस समय नारियल के पेड़ों की हँसने वाली छाया के नीचे से और पूरब की ओर की बाग की दीवार पर से उषा देवी ताजा व ठंडी किरणों के साथ मेरी ओर उचक-उचक कर देखती थी।

हमारे घर के उत्तर की ओर एक मैदान है, उसे हम आज भी गोलाबारी (कोठार) कहते है। इस नाम से यह मालूम होता है कि वहाँ बहुत दिनों पहिले अनाज का कोठार रहा होगा। जिसमें साल भर के लायक अनाज इकट्ठा किया जाता होगा। जिस तरह बचपन में भाई-बहिन मे बहुत कुछ समानता है उसी तरह उस वक्त शहर और गाँव के रहन-सहन में भी बहुत कुछ समानता दिखलाई पडती थी। आजकल तो उस बराबरी का लेश भी नही दिखता। मुझे मौका मिलने पर व छुट्टी के दिनों मे गोलाबारी मेरे रहने की जगह बन जाती था। यह कहना वहम भरा होगा कि मैं वहाँ केवल खेलने को जाता था क्योंकि मुझे वह जगह आकर्षित करती थी, खेल नही। उस ओर मेरा खिंचाव क्यो था? यह कहना मुश्किल है। शायद उस कोठार के एक कोने में गीली जमीन के कारण वहाँ जाने का मुझे मोह होता होगा। वह जगह बस्ती से बिल्कुल अलग थी और उपयोगी होने की छाप भी उस पर लगी हुई न थी। वह जगह किसी काम की न थी। फलफूल के पेड़ लगाकर किसी ने उस जगह को शोभित भी नहीं किया था। इसी वजह से उस जगह की डरावने पन से मेरी कल्पना के आजादीपन मे किसी तरह का विघ्न नही पडा। मेरे पर देख-रेख करने वालों की नजर चुराकर जब मुझे उस जगह पर जाने का मौका मिलता था, तब मुझे छुट्टी मिलने के समान आनन्द आता था।

हमारे घर मे और भी एक जगह थी, पर वह कहाँ थी, इसे ढूंढने में मुझे अभी तक कामयाबी नही मिली। मेरी ही बराबरी की मेरे खेल की साथिन एक लड़की थी।

वह इस जगह को रजवाड़ा कहती थी। वह कभी-कभी मुझसे कहा करती थी कि "मैं अभी वहां से आ रही हूं" पर मुझे वहां साथ ले जाने का सयोग उसे कभी नही मिला। यह एक अनोखी जगह थी और वहा होने वाले खेल-खिलौने अनोखे थे। मुझे लगता था कि यह जगह कहीं पास ही पहिली या दूसरी मंजिल पर ही होनी चाहिए और वहाँ जाने की किसी में शक्ति भी नही है। मैं अपनी साथिन से कई बार पूछता था कि वह जगह घर के भीतर है या बाहर? पर वह हमेशा यही जवाब देती थी—नही! नही, वह घर मे ही है। इस जवाब से मैं विचारा करता था कि यह जगह कहा होगी? क्या ऐसी भी कोई घर मे जगह या कमरा है, जिसे मैं नही जानता? इस रजवाड़े का राजा कौन था—इसकी तलाश मैंने कभी नही की। यद्यपि वह राजमहल कहाँ था—यह मुझे अभी तक नहीं मालूम हुआ तो भी वह हमारे घर में ही था, यह बात सच है। बचपन की उम्र की ओर निगाह डालने पर जिन्दगी और दुनिया मे जो गहरे राज भरे हुये हैं, उनका ही खयाल मुझे बार-बार होता है। उस रजवाडे के सामने मुझे यह भी मालूम होता है कि दुनियां मे एक ऐसी चीज सब जगह मौजूद है, जिसका सपने में कभी दर्शन नही हुआ है और रोजाना हमे यही सवाल ज्यादह महत्व का मालूम होता है कि वह चीज हमे कब मिलेगी? मानों ससार का देवता अपनी मुट्ठी को बन्द कर हमसे खुशी से पूछता है कि बताओ मेरी मुट्ठी मे क्या है? और हमें इसकी कल्पना भी नही होती कि ऐसी कौनसी चीज है जो इसके पास नही होगी?

दक्षिण के बरामदे के कोने मे मैंने सीताफल का बीज बोया था। इसे मैं रोज पानी भी देता था, यह बात मुझे अच्छी तरह याद है। इस बीज से झाड उगेगा या नही, इस बात पर मेरा कुतुहल-भरा खयाल रहता था। आज भी सीताफल के बीज में अकुर फूटते है, लेकिन वह राज जानने की इच्छा अब नही है। यह गलती सीताफल की नही है किन्तु हमारे मन की है। अपने चचेरे भाई के पत्थरों के ढ़ेर में से उन्हे न मालूम होते हुए मैं कुछ पत्थर उठा लाया था और उनकी एक छोटी-सी टेकरी बना ली थी। उन पत्थरो की दरारो में कुछ पौवे भी लगाए थे। उनकी मैंने इतनी देख-रेख रखी थी कि जिससे वे बिना समय मे ही नष्ट होने से बच सकें। पत्थरो के इस छोटे ढेर से मुझे इतना सुख मिलता था कि उसको शब्दों मे लिखना मुश्किल है। मुझे इसमे बिलकुल शक नही था कि मेरी पैदा की हुई यह दुनिया हमारे बूढो को अचम्भे मे डाल देगी। मेरे इस भरोसे को जमाने के लिए जो दिन मैंने तय किया था उसी दिन मेरी कोठरी के कोने में बनी यह छोटी-सी टेकरी—उसके पत्थर और पौधे एकदम नष्ट हो गए। 'पढने की कोठरी की जमीन पहाड़ी बनाने लायक जगह नही है'—इसकी जानकारी हमारे बड़े-बूढो ने मुझे कराई और जल्दी से कराई कि उस टेकरी का नामो-निशान मिटा देने से दिल को भारी धक्का लगा। यद्यपि पत्थरों के बोझ से जमीन को छुट्टी मिल गई, लेकिन उस बोझ से मेरा

मन दब गया और तब मुझे अच्छी तरह मालूम हुआ कि हमारी आजाद इच्छा और बडों की इच्छा में भारी फर्क है।

दुनिया की जिन्दगी उस हमारे मन को कंपा दिया करता था। जमीन, पानी हरियाली, आसमान ये सब चीजें हमसे बतियाती थी। इनकी ओर लापरवाही नही कर सकते थे। हमे इस बारे मे कितनी बार गहरा दु:ख हुआ होगा कि हमें जमीन का ऊपरी हिस्सा तो दिखता है लेकिन आखिरी हिस्सा का कुछ भी पता नही चलता। जमी के धु धले पर्दे के भीतर हम अपनी नजर किस तरह पहु चा सकेंगे, इसका खयाल मन में हमेशा हुआ करता था और कभी-कभी यह खयाल भी पैदा होता था कि यदि जमीन के भीतर एक के बाद एक बास डाले जाय तो शायद परोक्ष तरीके से हम उसके भीतरी हिस्से को छू सकेंगे।

माघ के उत्सव में दीयों की माला के आगन के बाहर लकडी के खंभो की कतार लगाई जाती थी। इन्हें लगाने के माघ शुक्ला पडवा से गड्ढे खोदने का काम शुरु होता था। किसी भी उत्सव की तैयारी में बच्चो को खास मजा आता है। लेकिन मेरा खयाल इन हर साल खुदने वाले गड्ढो की ओर खास तौर से जाता था। यह काम मै हर साल होता हुआ देखता था। कई बार खोदते-खोदते गड्ढ़ा इतना गहरा होता हुआ दिखलाई पड़ता था कि उसमे खोदने वाले भी नही दिखाई देते थे। इनमें कोई चीज मुझे ऐसी नही दीखती जो राजकुमार या किसी दिलेर बहादुर के ढूंढने लायक हो तो हरेक बार मुझे यही मालूम होता था कि गहराई की पेटी का ढक्कन खोला जा रहा है और मन मे यह आता था कि यदि थोडा और खुदे तो ढक्कन जरूर खुलेगा। इसे सालो पर साल गुजर गए, पर ज्यादा गहरे खुदने का काम पूरा नही हुआ। पर्दे पर धक्का मारा जाता था, परन्तु वह हटता नही था। हमे अचम्भा होता था कि हमारे बुजुर्ग जो चाहे सो कर सकते है, फिर वे इतना थोड़ा खोदकर ही क्यों रह जाते है? हम छोटे बच्चो के हाथ मे यदि यह बात होती तो जमीन के भीतर के राज को हम कभी धूल से नीचे दबा हुआ नही रहने देते।

हमारे खयाल को इस वजह से भी ताजगी मिलती थी कि आसमान के हरेक प्रदेश के पीछे उसकी गहराई छिपी हुई है। बगाली शास्त्र की पहली किताब के पाठ का जिक्र करते हुए हमारे पंडितजी ने जब हमसे कहा कि आसमान मे दिखलाई पड़ने वाला यह नीला रंग कोई पुता हुआ नही है, तब हमें बहुत अचम्भा हुआ। उसके बाद फिर पंडतजी ने कहा कि कितनी ही सीढ़िया लगाने और उन पर चढ़ने से आसमान में कभी कोई चीज सिर से नही टकरायेगी। तब मैंने मन में सोचा कि वहां तक पूरी सीढ़िया शायद ये नही लगा सकते होंगे। इसी से जहा लापरवाही के साथ पूछा—यदि एक पर एक अनगिन नसेनिया लगाई जांय तो क्या होगा? परन्तु जब मुझे यह कहा गया कि वे कुछ भी काम न आ सकेंगी, तब मैं विचार करते हुए चुप हो गया और आखिर मे मैंने यही तय किया कि जो सारे संसार का शिक्षक होगा, उसे ही यह अचम्भा भरा राज मालूम होगा। □

नौकरों का साम्राज्य

जिस तरह हिन्दुस्तान के इतिहास मे गुलाम घराने की हुकूमत सुखदायक नही थी, उसी तरह मेरी उम्र के इतिहास मे भी नौकरों की हुकूमत का समय भी खास आनन्द या ठाठ-बाट मे नही बीता। यद्यपि हमारे राजाओं—नौकरो की बार-बार बदली होती थी, लेकिन् हमे सताने वाली सजा मे कभी भी फर्क नही पड़ता था। इस बारे मे सच्चाई जानने का उन दिनो हमें मौका ही नही मिला। हमारे पीठ पर पड़ते हुए धौल को जहा तक हो सकता, बर्दाश्त करते और यह समझकर अपने आप हल भी कर लेते थे कि ससार का कायदा है कि बड़ा आदमी दु ख दे और छोटा सहन करे। इस नियम से हम परे नही थे, परन्तु इस नियम के विपरीत यह बात सीखने मे मुझे बहुत दिन लगे कि दु ख सहन करने वाले बड़े और दु.ख देने वाले छोटे होते है।

शिकारी और शिकार इन दोनो की निगाहे नीति के सत्य ठहराने मे हमेशा आपस मे विपरीत होती है। एक चालाक पछी का बन्दूक छूटने के पहिले ही किकाली मार कर उड जाना और साथियों को जागरुक कर देना, शिकारी की नजर मे नालायकी या बदमाशी का चिन्ह है। इसी तरह हमे जब मार पड़ती तब हम भी चिल्लाते थे और हमारे इस बर्ताव को सजा देने वाले नौकर अच्छा नही समझते थे, लेकिन् इसे वे अपने शासन के खिलाफ बगावत मानते थे। इस प्रकार की बगावत को खत्म करने के लिए हम लोगो के सिर पानी से भरी हुई नादो मे किस तरह डुबाए जाते थे, वह मैं कभी नहीं भूलूंगा। सजा देने वालो को हमारा रोना कभी अच्छा नही लगता था, उनके द्वारा इस तरह दी जाने वाली सजा से कभी कुछ खतरनाक नतीजे निकलने की भी सभावना रहती तो भी नौकर लोग इस तरह की कठोरता और बेरहमपनी क्यो करते हैं? इसका मुझे अब भी कभी-कभी अचरज होता है। हमें अपने खुद के वर्ताव से ऐसी कोई खटकने लायक बात नही मालूम होती थी जिससे हम मानवीय दया से रहित रखे जाये, तो फिर इस वर्ताव का कारण क्या? इसका जवाब मुझे यही मालूम होता है कि हमारा सब बोझ नौकर लोगों पर था और यह बोझ इस तरह का होता है कि उसे घर के लोग भी बर्दास्त नही कर सकते हैं। बच्चो को बच्चों के समान यदि अल्हड़ रहने दिया जाय तो उन्हे भागने, दौड़ने, खेलने व जानने की इच्छा से सतुष्ट करने की आजादी दे दी जाय तो उन्हे सभालना बहुत आसान हो जाता है। परन्तु यदि उन्हे घर मे दबा कर रखा जाय तो एक मुश्किल आ पड़ती है। बच्चों की अल्हड़ वृत्ति से जो भार हलका हो जाता है वही उन्हें दबाकर रखने से एक कहानी के घोड़े के समान बच्चो को मुश्किल जाना पड़ता

है। कहानी के घोड़े को उसके अपने पावो से न चलाकर उठाकर ले जाने वाले किराये के मजदूर यद्यपि मिल गये थे परन्तु कदम-कदम पर उन्हे यह बोझा क्या बिना खटके रहा होगा ?

हमारे बचपन के इन जुल्मी लोगो के बारे मे मुझे सिर्फ इतना ही याद है कि ये लोग प्राय आपस मे लट्ठबाजी करते रहते थे। इसके सिवाय और मुझे कुछ याद नही है। हा, एक आदमी की खासियत से अब भी मुझे याद है।

इसका नाम ईश्वर था। पहिले वह एक गाव में पढाता था। बड़ा ऐंठवाला, साफ-सुथरा, गम्भीर चेहरा वाला और गर्वीला गृहस्थ था। इसकी यह समझ थी कि यह भूमि केवल मिट्टी की है और इसे जल भी शुद्ध नही कर सकता। इसीलिये भूमि की मिट्टी वाली स्थिति से उसका लगातार झगड़ा हुआ करता था। वह अपने बर्तन बडे वेग से हौज मे डाल देता था ताकि छूत रहित गहरे पानी में से उसे पानी मिले। नहाते वक्त पानी के ऊपर का सब कचरा दूर कर एकदम वह डुबकी मारता था। रास्ते मे चलते वक्त वह अपना दाहिना हाथ शरीर से अलग रख कर चलता था। उससे हमे यह मालूम होता था कि मानो इसे अपने कपड़ों की सफाई के बारे में ही वहम हो। इसके बर्ताव से यह मालूम होता था कि भूमि, जल, हवा और मानवीय रहन-महन में अदृश्य भाव से घुसे हुए दोषो से यह भी अपने आपको दूर रखने की कोशिश करता है। इसकी गम्भीरता गहरी थी। सिर को तनिक तिरछा कर गहरे स्वर से संभालते सम्भालते चुने हुए शब्द यह बोलता था। इसके पीछे खड़े होकर सुनने से हमारे परिवार के बूढे लोगो को बड़ा सुख मिलता था। इसकी शब्दों की चका चौध भरी कहावतों ने हमारे परिवार के दिल छूने वाले भाषणों के भण्डार में हमेशा के लिये जगह पा ली थी। इसके तैयार किये हुए शब्द भण्डार आज के वक्त मे उतने अच्छे मालूम होंगे या नही, इसका मुझे शक है और इस पर से यह दिखता है कि पहिले जो लिखने और पढने की भाषा मे जो जमीन आसमान का फर्क रहता था, अब वह दूर होता जा रहा है, और एक दूसरे के पास आ रहा है।

पडिताई का जाप किये हुए इस आदमी ने साझ के वक्त हमे चुप बैठाने की एक तरकीब ढूंढ निकाली थी। यह रोज शाम को हमे अरंडी के तेल की जली हुई बत्ती के आस-पास बिठाकर रामायण व महाभारत की कहानी सुनाया करता था। उस समय दूसरे नौकर भी वहा आकर बैठते थे। छप्पर की मुडेर पर उस बत्ती की बहुत बडी छाया फैल जाती थी और भीतर छिपकली छोटे-छोटे कीड़े पकड़ा करती थी और हम ध्यानपूर्वक कहानी सुनते रहते थे।

एक दिन शाम को कुश और लव की कहानी शुरू हुई। उस कहानी में बहादुर बच्चों द्वारा जब अपने पिता और काका के यश को तिनके के समान समझने की धमकी देने का वर्णन आया तब इसके बाद क्या हुआ की आवाज मे हम लोगों ने उस धीमे उजाले वाली कोठरी की चुप्पी किस तरह तोड़ी थी, यह मुझे अच्छी तरह

याद है। बहुत देर हो गई थी। बहुत देर हो गई थी, हमारे सोने का समय नजदीक ही था और कहानी का अन्त बहुत दूर था। ऐसे प्रसंग पर मेरे पिता का किशोरी नामक बूढ़ा नौकर हमें लेने वहां आ पहुंचा। अतः ईश्वर ने भी यह कहानी जल्दी से पूरी की। उस कविता में चौदह पद थे और वह बहुत धीरे-धीरे पढ़ी जाने लायक थी। परन्तु जल्दी से ईश्वर ने पढ डाली और हम लोग अनुप्रास के पूर में ही गोते खाते रहे।

इस कहानी के बांचने से कभी-कभी शास्त्रों की चर्चा भी होती थी और उसका फैसला ईश्वर की गम्भीर और ज्ञान के द्वारा होता था। वह लड़कों का नौकर था इसलिए उसका पद हमारे घर के लोगों में बहुत नीचा था, तो भी उसके बनिस्पत उम्र और ज्ञान में कम काबिलियत रखने वालों पर उसका महाभारत के भीष्म के समान प्रभाव जम जाता था।

हमारे इस गम्भीर और आदरणीय नौकर में एक कमी थी और इस कमी को ऐतिहासिक सत्यता के लिए यहां लिखना मैं जरूरी धर्म मानता हूं। यह अफीम खाता था, इसलिए मिठाई खाने की इसकी बहुत बड़ी इच्छा रहती थी। इसका नतीजा यह होता था कि जब वह रोजाना सुबह दूध का प्याला भर कर हमारे पास लाता था तो उसके मन का और प्याले का झगड़ा बहुत होता था और आखिर में हटाने की ताकत को खिंचाव शक्ति के आगे हारना पड़ता था। दूध पीने की हमें खुद की अरुचि थी। यह अरुचि दिखाने मे देर न होती कि तुरन्त वह प्याला हमारे आगे से दूर होकर ईश्वर के पेट में पहुंच जाता था। यह कभी भी हमारी तन्दुरुस्ती के लिए भला बतलाकर उस दूध को पीने के लिए हमसे दुबारा कहता तक न था। पौष्टिक पदार्थ को पचाने की हमारी ताकत के बारे में भी ईश्वर के विचार ओछे थे। सांझ को जब हम जीमने को बैठते तो गोल-गोल और मोटी मोटी कड़ी पूरियां वह हमारी थालियों में परोसता था और कहीं पूड़ी छूट न जाय इसलिये बहुत ऊंचे से वह हरेक की थाली में एक एक पूरी परोसना शुरू करता था। भक्त के बहुत हठ करने पर भी भगवान द्वारा बड़ी नाराजगी से वह मिलने के समान एक-एक टुकड़ा हमारी थाली मे डालता था। फिर वह हमसे पूछता था कि और भी कुछ चाहिए? हम यह अच्छी तरह समझते थे कि वह किस जवाब से खुश होगा? इसलिए उससे यह कहने में कि 'और परोस' मुझे बहुत खेद हुआ करता था। दोपहर के फलाहार के लिए भी इसके पास दाम रख दिये गये थे। यह सुबह होते ही रोज हमसे पूछता कि तुम्हें आज क्या चाहिए? हमें यह मालूम था कि जितनी ही सस्ती चीज मगायेंगे उतना ही यह खुश होगा, इसलिए चांवल की लाई और कभी कठिनाई से पचने वाले चने और मूंगफली लाने के लिए हम इसे कहते थे। आंखो में तेल डालकर शास्त्रों के अनुसार नियमों का पालन करने वाला ईश्वर खाने-पीने के सभ्य नियमों का पालन करने की खास चिन्ता नहीं करता था। ☐

पाठशाला

जिस समय मैं 'ओरियटल सेमिनरी' में था, मैंने 'पाठशाला' में जाने वाला लडका' इस हल्के सम्बोधन से छुटकारा करा लेने का एक रास्ता ढूंढ निकाला था। मैंने अपने बरामदे के एक कोने मे अपनी एक पाठशाला खोल दी थी, जिसमें लकड़ी के गज मेरे छात्र थे। हाथ मे छडी लेकर मैं उन गजों के सामने कुर्सी पर मास्टर बन कर बैठ जाता था। मैंने यह भी तय कर लिया था कि उन छात्रो मे अच्छे और बुरे छात्र कौन-कौन हैं ? इतना ही नहीं, मैंने यह भी ठहरा दिया था कि उनमें से बदमाश, चतुर, सीधे, मूर्ख छात्र कौन है। मैं उनमें से बदमाश छात्रो पर छड़ियों की मार करता था कि यदि वे सजीव होते तो उन्हें अपनी जिन्दगी बोझिल हो जाती। मै उन्हे जितना ही ज्यादा मारता था उतना ही मुझे ज्यादा गुस्सा आता था और मैं इतना चिढ़ जाता था कि मुझे यह समझना मुश्किल हो जाता था कि मैं इन्हे किस तरह दबाऊं। मैंने अपने उन गूंगे छात्रों पर कितना भारी जुल्म किया था, यह बतलाने के लिये उनमे से अब कोई भी नही बचा है। क्योंकि बरामदे में उन लकड़ी की छडों की जगह लोहे के छड लगा दिये गये हैं। इस नई पीढी में से किसी को पहले की पढाई के तरीके से लाभ की सधी नही मिली है और यदि मेरे जैसा शिक्षक इन्हे मिला भी तो इन पर इनके पुरखों जैसा नतीजा भी नहीं हुआ होता।

मुझे उस समय इस बात का मालूम हो गया कि असल की बनिस्पत नकल करना आसान होता है क्योकि मैंने अपने आप में, सिखाने की हथोडी के सिवा शिक्षको के जल्दबाजी, चंचलता, पंक्तिवद्धता आदि जो गुण मैंने अपने शिक्षकों में देखे थे–आसान तरीके से पैदा कर लिये थे। मुझे अब यह जानकर सतोष होता है कि मुझमे उस समय किसी सजीव पर उक्त अजान प्रयोग करने की ताकत नही थी। मैं अब विचार करता हू तो मालूम होता है कि प्राइमरी स्कूल के छात्रों और मेरे लकडी के गज रूपी छात्रों मे फर्क जरूर था, पर इन दोनों के शिक्षकों के मानस-शासन मे कुछ फर्क न था। बुरे गुणों का पैदा होना कितनी जल्दी से होता है, इसका यह अच्छा नमूना है।

मुझे विश्वास है कि मैं "ओरियटल सेमिनरी" मे बहुत दिनो तक नही पढा, क्योकि जब नार्मल स्कूल मे जाने लगा था तब भी मेरी उम्र बहुत छोटी थी। वहा की मुझे एक ही बात याद है कि स्कूल लगने से पहले छात्र गेलरी मे एक कतार मे

बैठकर कुछ पद्य गाया करते थे। यह एक दैनिक कार्यक्रम से ऊबे हुए मन को ताजा करने की कोशिश थी। बच्चो के दुर्भाग्य मे वे पद्य अंग्रेजी मे थे और उनकी तर्ज भी परदेशी ही थी, इसलिए हमें इस बात का ख्याल भी नही होता है कि हम क्या बोल रहे हैं। बिना समझे-बूझे एक मत्र की तरह हम वे पद्य पढा करते थे। उससे हमें यह कहना बेकार और उक्ता देने वाला लगता था। इस तरह के कार्यक्रम की योजना छात्रों मे उमग पैदा करने के लिए की गई थी और शाला के अधिकारी समझते थे कि हमने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया, अब छात्रों का काम है कि वे इस कार्यक्रम से आनन्द और उमग प्राप्त करें। शाला के अधिकारी अपने कर्त्तव्य को पूरा करने के कारण बेफिक्र थे और इसलिये उन्हे यह जानने की जरूरत ही मालूम नही होती थी कि हमारे कार्यक्रम का लक्ष्य व्यावहारिक रूप से कितना पूरा हो रहा है। शाला में अभ्यास शुरू होने से पहले इस तरह का गायन करने का प्रस्ताव जिस अंग्रेजी किताब मे उन्होने पढा होगा, उसी किताब से शायद पद्यों को भी ज्यो की त्यों शाला के अधिकारियों ने अपने यहा भी लागू करके अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया होगा। विदेशी भाषा मे होने के कारण उन पद्यो के शब्द ज्यो के त्यो बोलना हमारे लिए मुश्किल था, इसलिए उन शब्दो को एक अनोखा रूप मिल गया था हमारे उन अंग्रेजी शब्दों के बोलने से भाषा के जानकारों के ज्ञान मे भी जरूर कुछ न कुछ बढोतरी ही होती। उन पद्यो में से मुझे इस समय एक ही पंक्ति याद है। वह यह कि :—

Kallokee Pullokee Singill Mellalling Mellalling Mellalling

बहुत विचार करने के बाद इस पक्ति के एक हिस्से का मूल सही मायने में जान पाया हूं। Kallokee शब्द किस मूल भाषा का बिगड़ा हुआ है, यह मैं अभी तक नही जान पाया। मेरा अन्दाज है कि उस शब्द के सिवा बाकी के हिस्से का मूल इस तरह का होगा—

Full of Glee Singing Merrity Merrity Merrity.

इस पाठशाला के बारे मे ज्यो-ज्यो मेरी याद ज्यादा साफ होती जाती है, त्यों-त्यों मुझे ज्यादा से ज्यादा दुःख भी होता है। क्योकि उस पाठशाला मे बिल्कुल मधुरता नही थी। यदि मैं इस शाला के छात्रों मे मिलजुल गया होता तो मुझे वहा सीखने का दुःख इतना ज्यादा मालूम नही होता, लेकिन मेरे लिए यह मुश्किल था क्योकि बहुत से छात्रों के चाल चलन का तरीका और उनकी आदतें बहुत ही खराब थी। इसलिये बीच में मौका मिलते ही मैं दूसरी मंजिल पर जाकर एक खिड़की मे बैठ जाता था और अपना वक्त बिताया करता था तथा यह गिना करता था कि एक साल हो गया, दो साल बीत गये, तीन साल बीत गये। इस तरह गिनते गिनते मुझे जब यह विचार होता था कि अब कितने साल और बिताने पडेगे, तब अचरज होता था।

अध्यापकों में से मुझे सिर्फ एक ही अध्यापक की याद है। उसकी भाषा इतनी खराब थी कि मुझे उससे नफरत हो जाती थी और इसलिये मैं उसके सवालो का जवाब देना हमेशा नामजूर ही कर देता था। इस तरह पूरे एक साल मैंने अपनी कक्षा में सबसे आखिरी नम्बर पर बैठकर निकाला था। मेरी कक्षा के दूसरे छात्र पढा करते थे और मैं चुपचाप बैठा अकेला न मालूम क्या-क्या सोचा करता था। साथ में कुछ उलझन के सवालों को हल करने का यत्न भी किया करता था। ऐसे ही सवालों में से एक बार मेरे सामने यह सवाल भी आया कि "बिना हथियारों के हालत मे दुश्मन की हार किस तरह ले।" कक्षा के छात्र अपना पाठ पढ़ रहे है, हल्ला-गुल्ला मचा हुआ है और मै इस तरह के सवाल हल करने में लगा हुआ हूं। उस समय की यह स्थिति आज भी मेरी आँखों के सामने खडी हो जाती है। यह सवाल मैंने इस तरह हल किया था कि बहुत से कुत्ते, शेर आदि खतरनाक जानवर ठीक शिक्षण देकर लड़ाई के मैदान में कतार मे खडे किये जांए और फिर हम अपनी बहादुरी दिखलाना शुरू करें, बस फिर तुरन्त ही जीत मिल जाने की आशा है। आश्चर्यमय आसान तरीके से यह उलझन सुलझाई जा सकती है। इस बात का ख्याल जब मेरे मन में आता, तब अपने पक्ष की जीत हासिल करने पर मुझे कुछ भी वहम नही रहता था। अब तक एक भी जवाबदारी का काम मेरे सिर पर नही पडा था, इसलिये ये सब बातें मुझे सूझती थी। अब मुझे यह पक्का भरोसा हो गया है कि जवाबदारी जब तक नही आ पड़ती, तब तक सफलता मिलने के लिए नजदीकी का रास्ता खोज निकालना आसान है, लेकिन जवाबदारी आ पड़ने पर जो मुश्किल है वह हमेशा मुश्किल बनी रहेगी। यद्यपि यह ठीक है कि इस तरह का विश्वास कुछ ज्यादा आनन्द देने वाला नही है पर सफलता हासिल करने का नजदीकी रास्ता खोज निकालना भी तो कम दु:ख दायक नही है। राजमार्ग को छोड़कर अड-वड रास्ते चलने से यद्यपि चलना थोडा पड़ता है, पर उस रास्ते मे जो कांटे, पत्थर आदि से सामना करना पड़ता है, उसकी क्या तरकीब ?

इस तरह ऊपर बताई कक्षा में एक साल पूरा कर लेने पर पंडित मधुसूदन वाचस्पति ने हमारी 'बंगाली' भाषा की परीक्षा ली। सारी क्लास में मुझे सबसे ज्यादा नम्बर मिले। इस पर शिक्षक ने स्कूल के अधिकारियों से यह शिकायत की कि मेरे बारे मे पक्षपात किया गया है। इसलिए स्कूल के व्यवस्थापक ने अपने सामने परीक्षक के द्वारा मेरी फिर परीक्षा ली और इस बार भी मैं पहले नम्बर मे पास हुआ।

□

काव्य-रचना

उस समय मेरी उम्र आठ साल से ज्यादा नहीं थी। मेरे पिता की बुआ का एक 'ज्योति' नामक लड़का था। वह मुझसे उम्र में बहुत बड़ा था। अंग्रेजी साहित्य में उसका अभी प्रवेश ही हुआ था, इसलिये वह हेम्लेट का स्वगत-वचन बड़े जोश में बोला करता था। यद्यपि मेरी उम्र छोटी थी, तो भी ज्योति को यह भरोसा हो गया था कि मैं अच्छी कविता कर सकूंगा। वास्तव में देखा जाय तो इस तरह के भरोसा का कोई भी कारण नहीं था। एक दिन दुपहर के वक्त ज्योति ने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया और एक कविता लिखने के लिए कहा। साथ में चौदह अक्षरों के छन्द की रचना करना भी उसने मुझे बता दिया।

उन दिन तक छपी हुई किताबों के सिवाय दूसरी जगह मैंने लिखी हुई कविता नहीं देखी थी। छपी हुई किताबों की कविता में लिखने की भूल, काटा-पीटी, कुछ नहीं होती। कितना ही यत्न करने पर भी इस तरह की कविता, मैं, कर सकूंगा, इस बात को सोचने की दृढ़ता भी मुझमें नहीं हो सकती थी। एक दिन हमारे घर में एक चोर पकड़ा गया। उस समय चोर कैसा होता है? यह देखने की मुझे बड़ी भारी इच्छा थी। इसलिए जहाँ पर वह चोर रखा गया था मैं डरते-डरते वहाँ गया। मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि वह भी एक आम आदमी जैसा आदमी है। उसमें और दूसरे इन्सानों में कुछ भी फर्क मुझे नहीं दिखलाई पड़ा, इसलिये दरवाजे पर पहरे वालों को उसके साथ बुरा बर्ताव करते देखकर मुझे बड़ी रहम आई। कविता लिखने के बारे में भी मुझे इसी तरह का अनुभव हुआ। पहले तो इस बारे में मुझे बड़ा डर मालूम होता था, लेकिन ज्योति के कहने पर मैंने अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शब्द एक जगह पर इकट्ठे किये देखता हूं तो 'पामर' छन्द, बाहरी पामर छन्द जिसकी रचना के नियम ज्योति ने मुझे समझा दिये थे, तैयार हो गया है। अब तो कविता लिखने में यश की पावना के बारे में मुझे कुछ भी शक नहीं रहा। जिस तरह पहरेदारों को चोर के साथ बुरा बर्ताव देखकर मुझे खेद हुआ था, उसी तरह नाकाबिल लोगों के द्वारा काव्य देवता की विडम्बना देखकर मुझे आज भी बहुत खेद होता है। देवता के प्रति होने वाले बर्ताव को देखकर मुझे कई दफा दया आई होगी पर मैं कर ही क्या सकता हूं। हमला करने के लिये बेचैन होने वाले हाथों को जबरन रोक रखने की ताकत मेरे में कहाँ है? काव्य देवता को आज तक जितने दुःख उठाने पड़े होंगे, उसे जितने हाथों ने बदरूप बनाने की कोशिश की होगी, उतने दुःख चोरों को भी नहीं उठाने पड़े होंगे और न उतने हाथों का उन्हें स्पर्श ही हुआ होगा।

पहले यह मालूम होने वाला डर इस तरह खत्म हो जाने पर कविता लिखने के बारे में आजादी देने लगा। मुझे रोकने वाला भी कौन था ? हमारी जमींदारी की देख रेख करने वाले एक ओहदेदार की मेहरबानी से मैंने एक नीले कागज की कोरी किताब लाई। उस पर पेन्सिल से लकीरें खींच कर बच्चों के समान मैं कविता लिखने लगा। तुरन्त निकले हुए छोटे-छोटे सींगों के सहारे इधर-उधर छलागें मारने वाले हिरण के बच्चे के समान मेरी नयी सामने आने वाली कविता लिखने का मेरे बड़े भाई को इतना गर्व हुआ कि उसने उस रचना को एक जगह पड़े रहने नही दिया। सारे घर मे उसको सुनने वाले ढूँढने पड़े। मुझे ऐसा याद है कि जमींदारी के ओहदेदारों पर हम दोनो के विजय पा लेने पर जब हम जमींदारी के आफिस से बाहर निकले तो हमें रास्ते मे 'नेशनल पेपर' के सम्पादक नव गोपाल मित्र आते हुए मिले। कुछ भूमिका न करते हुए मेरे भाई ने उनसे कहा, देखो नव गोपाल बाबू, हमारे रवि ने एक कविता की है। वह तुम्हें सुननी चाहिये। पर जवाब की राह कौन देखता है ? तुरन्त ही मैं कविता पढ़ने लगा। मेरी कविता लिखने की रुचि इस समय तीव्र नही हुई थी। वह बहुत ही सीमा मे थी। कवि अपनी सब कविता अपने खीसे में रख सकता था। कविता को रचने वाला, छापने वाला और उसे मशहूर करने वाला अकेला मैं ही था।

मेरा भाई इस काम मे साझेदार था। वह मेरी कविता के प्रचार के लिए विज्ञापन का काम करता था। वह कविता कमल के फूल पर बनाई गई थी। जिस जोश से मैंने उसको लिखा था, उतने ही जोश से मैंने यह कविता उसी वक्त और उसी जगह पर, जीने के नीचे, नव गोपाल बाबू को गाकर सुना दी। नव गोपाल बाबू ने हंसते-हंसते कहा कि 'बहुत अच्छी है' यह द्विरेफ क्या चीज है ? द्विरेफ शब्द की उत्पत्ति मैंने कहाँ से की थी, यह मुझे आज भी याद नही। यद्यपि एकाध दूसरे सादे शब्द से भी वह छन्द जम सकता था, लेकिन उस कविता मे द्विरेफ शब्द पर हमारी आशा का डोरा झूल रहा था। हमारे दफ्तर के मुंशियों पर तो इस शब्द ने बहुत ज्यादा असर डाला था, लेकिन नव गोपाल बाबू ने, आश्चर्य है कि उस शब्द की कुछ भी कीमत न समझी और इतना ही नही, साथ मे हसे भी। उनके इस बर्ताव से मैंने पक्का कर लिया कि अपनी कविता मे इनकी पहुंच नही है। इसके बाद कभी अपनी कविता उन्हें नही सुनाई। इस बात को आज बहुत साल बीत चुके है, और मेरी उम्र भी बहुत ज्यादा हो गई है, तो भी मुझे इस बात की जानकारी अभी तक नहीं हुई कि मेरी कविता पढने वालो की सरसता किस तरह आजमाई जाय, और उन्हे काव्य का सुख मिला है या नही, किस तरह जाना जाय ? नव गोपाल बाबू भले ही और कितना ही हँसे हों, पर फूलों के रस में डूबे भवरे की तरह 'द्विरेफ' शब्द अपनी ही जगह पर चिपटा रहा। □

विविध शिक्षक

हमारे स्कूल का शिक्षक हमें घर सिखाने को आया करता था। उसका शरीर रूखा था। उसकी नाक, आंख आदि में चमक नहीं थी। आवाज में रूखापन था। खास बेंत की छड़ी की तरह उसका शरीर था। सुबह साढे छ. बजे से नौ बजे तक उसका समय नियत था। उसने हमें बंगाली साहित्य की शास्त्रीय क्रमिक पुस्तकों को छोडकर 'मेघनाद' महाकाव्य पढ़ाना शुरू किया। मेरा तीसरा भाई मुझे तरह-तरह के विषयों का ज्ञान कराने में बहुत लगन दिखलाता था। इस कारण शाला के अभ्यास की बनिस्पत हमें घर पर बहुत ज्यादा सीखना पड़ता था। बड़ी सुबह उठकर लंगोट पहिन, एक अंधे पहलवान के साथ हमें कुश्ती की एक दो पकड़ भी सीखनी पड़ती थी। उसके बाद मिट्टी सने शरीर पर ही कपड़े पहिन कर भाषा, गणित, भूगोल और इतिहास पढ़ने में जुटना पड़ता था। शाला से घर वापिस आने पर हमें ड्राईंग और कसरत सिखाने वाले शिक्षक तैयार मिलते थे। इस तरह रात के नौ बजे के बाद हमें सब कामों से छुट्टी मिलती थी। रविवार के दिन सुबह, विष्णु हमें गाना सिखाता था। उसी तरह विज्ञान के प्रयोग बतलाने के लिए प्रायः सीतानाथदत्त भी हरेक रविवार को आया करते थे। उनके बताये प्रयोगों में से एक प्रयोग मुझे बहुत ही पसंद आया। एक कांच के बरतन में पानी भरकर उसमें उन्होंने लकड़ी का भूसा डाला और उस बरतन को आग पर चढ़ा दिया। हमें यह दिखलाया गया कि ठंडा पानी किस तरह ऊपर आया तथा यह क्रम चलते हुए पानी किस तरह उबलने लगा। उनके इस प्रयोग से मुझे कितना आश्चर्य हुआ था यह मुझे आज भी याद है। दूध से पानी अलग किया जा सकता है और दूध को औटाने पर दूध से पानी भाप बनकर अलग हो जाता है, इतनी बडी जानकारी उस दिन होने पर मैं बहुत चकराया था। सीतानाथ बाबू यदि रविवार को नही आते थे, तो वह दिन रविवार सा मालूम होता था।

शरीर की हड्डियों की जानकारी के लिए भी एक घण्टा नियत था। यह जानकारी कराने के लिये केवल मेडिकल स्कूल का एक छात्र आया करता था। तारों से बंधा हुआ आदमी के शरीर का हड्डियों का ढांचा हमारे कमरे में रख दिया गया था। इन सब में आखिर बात यह है कि संस्कृत व्याकरण के कायदों को याद कराने के लिए भी हेरंब तत्वरत्न ने समय नियत कर दिया था। संस्कृत व्याकरण के कायदों को याद करने में मुह को ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है या हड्डियों के नाम याद

करने मे, यह मै पक्का कह सकता हूं, पर मुझे यह भरोसा है कि इस बारे में व्याकरण के सूत्र पहला नम्बर पायेंगे। ये सभी विषय हमे बगाली में सिखाये जाते थे। इनमें हमारी गति होने पर, हमे अंग्रेजी पढ़ाना शुरू हुआ। हमें अंग्रेजी सिखाने के लिये अघोर बाबू को रखा गया। अघोर बाबू खुद मेडिकल कालेज के छात्र होने के कारण हमे सिखाने के लिए सध्या को आते थे। किताबो मे हम यह पढ़ा करते है कि इन्सानी खोजो में आग की खोज ज्यादा महत्त्व की है। मैं इस बारे में शक नही करना चाहता, लेकिन मुझे तो छोटे पछियों के मा बाप को साझ के वक्त दिया जलाना नही आता सो यह उन बच्चों का सौभाग्य ही मालूम होता है। सुबह होते ही उन्हे अपनी मातृ-भाषा मे पाठ सीखने को मिलते हैं और हरेक ने देखा होगा कि वे अपने पाठ कितनी मौज से सीखते है। हां, जरूर ही उन्हे अंग्रेजी नही आती। वे अपनी बोली में सीखते हैं।

हमारे अंग्रेजी के मास्टरजी का शरीर हट्टा-कट्टा था। अगर हम तीनो छात्र मिलकर कोई हरकत करते और चाहते कि कम से कम एक दिन ये न आवें तो भी हमे कामयाबी नही मिलती। हा, एक बार कुछ दिनो तक ये न आ सके थे, क्योंकि मेडिकल कालेज मे हिन्दू और ईसाई लड़को के झगड़े में किसी ने इनके सिर पर कुरसी फेंक कर मारी थी जिससे इनका सिर फट गया था। यह एक तरह की उन पर आफत आ गई थी, पर थोड़े ही दिनों में उन्हे आराम हो गया। किन्तु हमे तो यह अचम्भा था कि यह इतनी जल्दी ठीक कैसे हो गए? एक दिन की मुझे अच्छी तरह याद है कि साझ हो गई थी। पानी बरस रहा था। हमारे मुहल्ले में घुटने तक पानी भरा हुआ था। हौज का पानी बाग मे बहने लगा था। बेले के झाड़ों के झुब्बेदार सिरे पानी पर तैरते हुए मालुम होते थे। कदम्ब के फूल से निकलती हुई महक के समान इस सुख देने वाले बरसात की साझ में हमारे दिल में झरने फूटने लगे और हम सोचने लगे कि अब दो तीन मिनटो के बाद ही मास्टर जी के आने का वक्त निकल जायेगा। लेकिन यह भी पक्का नही कहा जा सकता था। हम दुखियारी आखो से अपने मुहल्ले की ओर देखते हुए मास्टर जी की बाट जोह रहे थे। इतने ही मे हमारी छाती मे धडाका हुआ। हमें मालूम हुआ कि बेहोशी आने वाली है, क्योकि मूसलाधार बरसात की परवाह नही करते हुए हमारी जानी पहचानी काली छत्री हमारी ओर आती हुई दिखलाई पड़ी। शक हुआ कि आने वाला आदमी कोई दूसरा होगा, पर नही, इस वक्त दूसरा कौन घर से बाहर निकलेगा। ऐसे तो हमारे मास्टर जी ही थे, जिनके समान शायद ही संसार मे कोई हठी हो।

उनके काम के वक्त की सब ओर से परीक्षा करने पर यह नहीं कहा जा सकेगा कि अघोर बाबू कडवे स्वभाव के आदमी थे। उन्होंने हमसे कभी कठोर बर्ताव नही किया। यद्यपि वे हमसे नाराजी के स्वर मे बोला करते थे, लेकिन उन्होंने हमने

रगड़-पट्टी कभी नही कराई। उनमें बड़ाई काबिल गुण भले ही भरे हों, पर उनके पढ़ाने का वक्त और विषय जरूर ऐसे थे, जो हमें कभी अच्छे नही लगे। स्कूल में सारे दिन परेशान होकर ऊबे हुए मन से सांझ के वक्त घर पर आये हुए बच्चे को यदि देवदूत की पढाई आवे और टिमटिमाते हुए दिये के उजाले मे अंग्रेजी पढ़ना शुरू करे, तो वह उसे यमदूत ही मालूम होगा। हमारे मास्टर जी ने अंग्रेजी भाषा की अच्छाई का हमे भरोसा कराने के लिए एक दफा जितनी कोशिश की थी वह मुझे अच्छी तरह याद है।

वह प्रयत्न यह था कि उन्होंने एक अंग्रेजी किताब में से कुछ हिस्से हमें इस तरीके से सुनाये, जिससे कि हमें सुख मिले। उसे सुनकर हम नही समझ सके कि यह गद्य है या पद्य, साथ में उसे सुनाने का नतीजा भी खिलाफ ही हुआ, यानि कि सुन कर हम लोग इतने ज्यादा हंसे कि हमारे मास्टरजी को उस दिन पढ़ाना ही छोड़ना पड़ा। उन्हें यह जानना चाहिए था कि बच्चों का मन अपनी ही तरह एक-दो रोज में नही हो सकता, लेकिन यह झगड़ा तो सालों तक मिटने वाला नही। हमारे स्कूल मे सिखाये जाने वाले सारे विषय अक्सर रूखे ही थे। इसलिए अघोर बाबू स्कूल के रूखे विषयों के बनिस्पत दूसरे विषयों से ज्ञान रूपी अमृत सींच कर हमारी थकावट मिटाने का कभी-कभी यत्न भी किया करते थे। एक दिन उन्होंने अपने जेबें में से कागज से लिपटी हुई कोई चीज निकाली और कहा कि आज तुम्हें मैं विधाता का एक करिश्मा बतलाता हूं। ऊपर का कागज निकाल डालने पर उसमें से आदमी का चेहरा उन्होने बाहर निकाला और चेहरे के द्वारा आदमी के मुंह की इन्द्रियों की बनावट उन्होंने हमे समझाई। उस वक्त मेरे मन पर जो धक्का लगा, उसका मुझे आज तक याद है। मुझे यह भरोसा था कि आदमी का सारा शरीर ही बोलता है। कोई एकाध इन्द्रियों के द्वारा बोलने की आजाद क्रिया होती है, इसकी मुझे कल्पना ही नही थी। किसी अंग की बनावट भले ही करिश्मा भरी हो, पर वह पूरा आदमी शरीर की बनिस्पत तो हीन ही रहेगा, इसमे शक नहीं है। यह विचार पैदा होने के लिए उस वक्त मुझे इतने शब्दो का प्रयोग नही करना पड़ा था। पर यह एक कारण था, जिससे मेरे मन पर उस समय भारी धक्का लगा था। दूसरी दफा एक दिन वे हमे मेडिकल कालेज मे आदमी के मुर्दा शरीर को फाड़ने-चीरने की जगह पर ले गए थे। एक बूढी औरत का मुर्दा शरीर टेबिल पर रखा हुआ था। उसे देखकर मुझे कुछ भी अटपटा सा नही मालूम हुआ, लेकिन जमीन पर काटकर डाली हुई उसकी टंगडी देखते ही मैं बेहोश हो गया। कटी-पिटी दशा में किसी आदमी को देखने का यह प्रसंग मुझे इतना डरावना और नफरत भरा मालूम हुआ कि कितने ही दिनो तक वह पूरा सीन और वह काले रंग की टंगड़ी मेरी नजरों से दूर नहीं हुई। 'प्यारी सरकार' द्वारा लिखी हुई पहली और दूसरी किताब पढ़ लेने

के बाद हम 'मेककुलों' की किताब पढ़ने लगे। शाम के समय हमारा शरीर थका हुआ रहता था, पर जाने के लिये हमारा मन बेचैन होता था। ऐसे समय में काले पुट्ठों की मुश्किल शब्दों से भरी हुई किताब हमें सीखनी पडती थी। उसमे भी विषय इतना रूखा होता था, जिसकी हद नही। इसका कारण यह था कि उस समय श्री सरस्वती देवी ने अपना मधुर ममत्व प्रकट नही किया था। आजकल के समान उस समय किताबें तस्वीर के साथ नही होती थी। इसके सिवाय हरेक पाठ की चौकी पर शब्दो के पहरेदारों की कतार और स्वर के आडे-तिरछे निशानो की संगीनों को कंधों पर रखकर बच्चो को अड़ाने के लिए राह मे खडी रहती थी। उन कतारो पर मैं हमला करता था, पर मेरे सब हमले बेकार जाते थे। हमारे मास्टर जी दूसरे छात्रों का नमूना पेश कर हमे शर्मिन्दा करते थे और उससे हमें दुःख होता, ग्लानि होती और उस होशियार छात्र के बारे मे मन कालिमा मे भर जाता था, पर इसका उपयोग क्या? इससे उस काले पुट्ठे की किताब का दोष थोड़े ही हमारे मन से दूर हो सकता था।

इन्सानी कौम पर मेहरबानी करके दुनिया की सारी दवा देने वाली बातो मे विधाता ने बेहोशी की दवा डाल दी है। हमारा अंग्रेजी पाठ शुरू होते ही हम ऊंघने लगते थे। आंखो में पानी लगाना और बरामदे के नीचे दौड लगाना आदि उदासी को दूर करने की तरकीबें थी और इससे नीद का नशा पल भर के लिये कम भी हो जाता था। पर फिर वही क्रम शुरू होता था। कभी-कभी हमारे बड़े भाई उधर से निकलते और हमें नीद में गाफिल देखते तो 'बस अब रहने दो' यह कहकर हमारा छुटकारा करा देते थे और जहा इस तरह हमे छुट्टी मिली कि फिर ऊबाई भी न मालूम कहां भाग जाती थी?

□

मेरा पहला बहिर्गमन

एक दफा कलकत्ते में बुखार की बीमारी फैली, इसलिये हमारे बड़े भारी परिवार में से कुछ लोगों को छड़ू बाबू के नदी-किनारे पर बने बगीचे वाले घर में जाकर रहना पड़ा था। इन लोगों में हम बच्चे भी शामिल थे।

अपना घर छोड़कर दूसरी जगह रहने का यह मेरा पहला ही मौका था। गये जन्म के प्यारे दोस्त की तरह गंगा नदी ने मुझे अपनी गोद में बैठाकर मेरी आव-भगत की। उस बगीचे वाले घर में नौकर-चाकरों के रहने की जगह के आगे जाम के झाड़ों का एक बाग था। बरामदे में इन पेड़ों की छाया के नीचे बैठकर उनकी डालियों के बीच में से गंगा नदी को देखता हुआ मैं दिन निकाला करता था। रोज सुबह उठने पर मुझे ऐसा मालूम होता था कि मानो सुनहरी बार्डर से शोभित कुछ नयी खबर देने वाले अखबार की तरह दिन मेरे पास आ रहा है। ऐसे अमूल्य दिन का पल भी बेकार न जाने देने के लिये मैं जल्दी-जल्दी नहाता था और बरामदे में अपनी कुर्सी पर जा बैठता था। गंगा में रोज ज्वार भाटा आया करता था। तरह तरह की बहुत सी नावें इधर से उधर घूमती दिखलाई पड़ती थी। सुबह होने पर पश्चिम की ओर मुंह किये दिखने वाली पेडो की छाया शाम के वक्त पूरब की ओर मुंह किये दिखलाई पड़ती थी। सूरज की किरणें शाम के वक्त आसमान से अलग होकर उस ओर के किनारे पर के पेड़ों की छाया के पास जा पहुंचती थी। कभी कभी सुबह से ही आसमान बादलों से ढक जाता था ऐसे समय में उस ओर की झाड़ी में अंधेरा रहता था और पेडों की काली छाया नदी के जल में हिलती हुई दिखलाई पडती थी। इतने में ही जोर से बरसात होने लगती थी। चारों ओर धूसर हो जाने के कारण छितिज का दिखना भी बंद हो जाने पर पेडो की छाया में आंसू से टपकने लगते, नदी का पानी बाढ़ के कारण बढने लगता था और पेड की छाया को हिलाती ठंडी-ठंडी भीनी हवा बहुत जोर से चलने लगती थी।

मुझे मालूम होता था कि घर की दीवालों, कमरों और म्यालों के पेट में से घर के बाहर के संसार में मेरा नया जन्म हुआ है। साथ में ऐसा मालूम होता था कि बाहरी वस्तुओं से नयी जानकारी करने के कारण मेरी बुरी एवं हीन आदतों का ढकना संसार और मेरे बीच से दूर हो रहा है। सुबह के समय मैं पूड़ी के साथ राब खाता था। उसका स्वाद अमृत से कम नहीं होता था। क्योंकि अमरता अमृत में

नही है, किन्तु चखने वाले में है और इसलिये वह ढूंढने फिरने वालो के हाथ नही लगती है।

घर के पीछे दीवालो से घिरा एक चौक था, जिसमें एक छोटा सा हौज बना हुआ था। इसके ऊपर नहाने की जगह थी और पानी तक सीढियाँ बनी हुई थी। एक ओर जामुन का बड़ा पेड़ था और हौज के आसपास कई तरह के घने फल के पेड लगे हुए थे जिनकी कि छाया मे वह हौज ऐसा मालूम होता था मानों कोई छिप कर बैठा हो। घर के भीतरी हिस्से के इस छोटे से सूने बगीचे में झुरमुट मे जो सुन्दरता छिपी हुई थी, उसने घर के सामने के दरिया-किनारे पर की सुन्दरता ने मुझ पर जो मोहजाल डाला था, उससे अलग ही मोहजाल फैला रखा था। खुद ही काढे हुए कशीदे वाले तकिए पर दुपहर के साथ एकान्त जगह मे मन के छुपे विचारों को गुनगुनाती हुई आराम करने वाली नई दुल्हिन की तरह उस बाग की सुन्दरता मालूम होती थी। उस हौज के भीतर कही छिपे हुए यक्ष के डरावने राज्य का सपना देखता हुआ मैं जामुन के पेड के नीचे दुपहर के वक्त घटो बिता देता था। बगाली खेडे कैसे होते है, यह देखने की मुझे बहुत इच्छा रहती थी। उनके घरो का समूह, वहाँ के घरो के आगे के मण्डप, छोटे-छोटे मुहल्ले, नहाने के पानी के छोटे-छोटे हौज, खेल, बाजार, खेत, दूकान, वहाँ की ग्राम जिन्दगी, रहन-सहन आदि बातो की मेरी कल्पना ने जो तस्वीर खीच रखी थी, उससे मेरा मन और भी ज्यादा खिचा हुआ था। ठीक इसी तरह का खेडा हमारे घर की दीवाल के सामने दिखलाई पड़ता था, पर वहा जाने की मनाही थी। यद्यपि हम कलकत्ते से बाहर तो आ गए थे, पर हम आजाद नही हुए थे। इस समय पिंजरे से तो बाहर हो गए थे, लेकिन हमारे पाव मे जो सिकड पडी हुई थी उससे हमे छुटकारा नही मिला था। एक दिन सुबह हमारे बुजुर्गों मे से दो आदमी घूमने फिरने के लिए उस खेडे की ओर जाने को निकले। उस वक्त मैं अपनी इच्छा पल भर के लिए भी न रोक सका। इसलिए उन्हे बिना मालूम हुए, मैं धीरे से उनके पीछे कुछ दूर तक चला गया।

मैने देखा कि एक आदमी नगे बदन पानी में खड़ा हुआ अपने शरीर पर इधर-उधर पानी डाल रहा है, और दांतून को चबाता हुआ दात घिस रहा है। यह सीन आज भी मेरी आखो के सामने आ जाता है। मैं यह सब देखते-देखते उन लोगों के पीछे जा रहा था। इतने में ही उन लोगों को यह बात मालूम हो गई कि मैं भी उनके पीछे-पीछे आ रहा हू। बस नाराज होकर कहने लगे कि "जा वापिस लौट जा।" उस वक्त मैं नगे पाव था। धोती भी नही पहिनी थी। सिर्फ कोट ही पहने हुए था। बस, इसी पर वे कहने लगे कि ऐसी हालत मे हमारे साथ चलने मे लोग हमें हसेंगे, पर यह क्या मेरी गलती थी। अभी तक मुझे पैरों के मोजे नही खरीद दिये

थे और न दूसरे कपड़े ही थे जिन्हें पहन कर मैं सभ्य लगूं। मुझे भगा देने पर मैं निराश होकर अपनी जगह पर लौट आया और फिर कभी बाहर निकलने का मुझे मौका ही नहीं मिला। इस तरह यद्यपि घर के उस ओर क्या है यह देखने की मुझे मनाही हो गई, पर घर के आगे वाली गंगा नदी ने इस गुलामी से मुझे छूट दे दी थी। आनन्द से घूमने वाले मछुए (डोंगे) में बैठकर मेरा मन अपनी मर्जी के अनुसार भूगोल की किसी भी किताब में न मिलने वाले दूर-दूर के देशों में जा पहुंचता था। इस बात को चालीस साल बीत चुके हैं, चम्पक-छाया से ढका बगीचे वाले घर में उसके बाद फिर मैंने कभी पांव भी नहीं रखा। हो सकता है कि वही जूना पुराना घर और उसके आस-पास के पुराने पेड़ आज भी वहां होंगे, पर मुझे यह भरोसा नहीं होता कि वे सब वस्तुएं पहिले के ही समान होंगी, क्योंकि जिस दिन-ब-दिन नए नए आश्चर्य होते थे वह मैं अब पहले जैसा कहां रहा हूं? मेरे बाहर निकलने की यह स्थिति पूरी हुई। मैं शहर के 'जोड़े सांकू' वाले घर में लौट आया। मगर-मच्छ के समान फैले हुए स्कूल के मुंह में मेरे दिन कौर के समान एक के बाद एक जाने लगे।

□

श्रीकंठ बाबू

मेरे सौभाग्य से इस समय एक 'सुनने वाला' मिल गया था। उसके समान दूसरा सुनने वाला मुझे कभी नही मिलेगा। इनमे हमेशा आनन्द मे डूबे रहने की इतनी बेहद ताकत थी कि हमारे मासिक अखबारो मे से किसी भी मासिक-पत्र ने टीका करने वाले की जगह के लिए उन्हें नाकाबिल ही माना होता। वह बूढा आदमी ठीक पके हुए आर्यफान्सों आम की तरह था। इस आम में रेसा और खटाई बिल्कुल ही नही होती। इनकी खोपडी व दाढ़ी घुटी हुई और चिकनी थी। इनके मुंह मे दात एक भी नही था। उनके बड़े-बड़े हँसती हुई सी आंखें हमेशा आनन्द से चमकती रहती थी। कोमल गम्भीर आवाज जब वे बोलते थे तब ऐसा मालूम होता था कि उनके मुंह, आख आदि सब बोल रहे है। उन पर पहले की मुसलमानी सभ्यता का असर था। अंग्रेजी का उनसे स्पर्श भी नही हुआ था। कभी न भूले जाने वाले उनके दो साथी थे। एक दाहिने हाथ में हुक्का और दूसरी गोदी में सितार। इनकी जोड़ी मिलते ही श्रीकण्ठ बाबू अलापने लगते थे।

श्रीकण्ठ बाबू को किसी से जानकारी करने की जरूरत मालूम नही होती थी क्योंकि उनके आनन्दमय, उत्साहभरे मन के लगाव से लापरवाही नही कर सकता था। एक दफा फोटो निकलवाने के लिए वह हमें एक विख्यात फोटोग्राफर की दूकान पर ले गए और अपनी गरीबी का व फोटो की बहुत जरूरत का दूकानदार के आये कुछ हिन्दी और कुछ बगला भाषा मे ऐसा रसीला वर्णन किया कि दूकानदार झूमने लगा और उसने हसते-हंसते अपनी रखी हुई दर से कुछ कम दर पर फोटो खीचना मंजूर कर लिया। अंग्रेजी दूकानदारों के यहां अक्सर दर पहले से ही ठहरी हुई रहती है और कभी ज्यादा या कम करने की गुंजाइश ही नही रहती, लेकिन श्रीकण्ठ बाबू ने वहाँ भी अपने कोमल वचन से काम बना लिया और यह नही मालूम होने दिया कि उनका बोलना नियमों के विपरीत है। श्रीकण्ठ बाबू बहुत ही भावुक, रसीले और दबाव डालने का सपने में भी खयाल न करने वाला इन्सान था। वे कभी-कभी हमें एक यूरोपियन मिशनरी के घर ले जाया करते थे। वहाँ भी उनका वही क्रम रहता था। हंसना, गाना, खेलना, उनकी छोटी बच्ची को खिलाना, मिशनरी की स्त्री के पैरो का गुणगान करना आदि। दूसरों से न हो सकने वाली बातों से वे मिशनरी के घर बैठे हुए लोगों को प्रसन्न कर दिया करते थे। इस तरह बेजोर बर्ताव करने वाला यदि वहां कोई दूसरा होता, उसकी गलती में गिनती होती

[श्रीकंठ ...

पर श्रीकण्ठ बाबू के स्वाभाविक तरीके से दिखाई पड़ने वाले छलरहित भाव से लोग खुश हो जाते और उनकी बातों में शामिल होते थे।

लोगों के ऊधमीपन का श्रीकण्ठ बाबू पर कुछ भी नतीजा नहीं होता था। उन दिनों हमारे यहां एक साधारण गवैया तनख्वाह पर तैनात किया गया था। शराब के नशे में अट-शट बोलकर वह श्रीकण्ठ बाबू के गाने का मनमाना मजाक उड़ाया करता था, लेकिन श्रीकण्ठ बाबू जवाब देने का कुछ भी यत्न न करके उसकी सब बातें बड़े धीरज के साथ सहन करते थे। इतना ही नहीं, जब उसके ऊधमी बर्ताव के कारण उसे निकाल दिया गया, तब श्रीकण्ठ बाबू ने बड़ी सहानुभूति के साथ यह कहकर उसकी सिफारिश की कि यह उसका दोष नहीं, उसके दारू पीने का दोष है।

किसी का दुःख देखने या सुनने से उन्हें बहुत दुःख होता था। इसलिए यदि हम बच्चों में से कोई बच्चा उन्हें तकलीफ पहुंचाना चाहता तो वह 'विद्यासागर' के वनवास से कुछ हिस्सा उनके आगे पढने लगता था। बस श्रीकण्ठ बाबू एकदम उसे पढने से रोक देते थे।

यह बूढा आदमी, मेरे पिता, बड़े भाई और हम सब बच्चों का प्यारा था। इस उम्र में भी हम सब से मिल जाया करता था। बड़ों में बड़ा और छोटों में छोटा बन जाना इसके लिए मामूली बात थी। जिस तरह पानी लहरों के साथ खेलने और नाचने में सब तरह के पत्थर के टुकड़े एक से होते हैं, उसी तरह थोड़ा सा जोश मिलने पर श्रीकण्ठ बाबू आनन्द में भी बेहोश हो जाया करते थे। एक बात पर मैंने एक प्रार्थना लिखी, इस प्रार्थना में मैंने इस संसार में इन्सान पर आने वाली मुसीबतों और उसके परख की कसौटियों के बारे का उल्लेख करने में कसर नहीं की थी। मेरे इस भक्तिपूर्ण सुन्दर काव्य-रत्न से मेरे पिताजी को जरूर ही आनन्द मिला होगा, इसका श्रीकण्ठ बाबू को पक्का भरोसा हो गया और इस आनन्द के पूर में उन्होंने वह प्रार्थना खुद ही जा कर मेरे पिताजी को बतलाना मंजूर किया। सौभाग्य से उस समय वहां मैं नहीं था लेकिन पीछे से मैंने सुना कि इतनी छोटी उम्र में अपने बेटे को संसारी दुःखों ने इतना दुःखी किया कि उससे उसमें कविता करने की प्रेरणा जाग गई, यह जानकर मेरे पिताजी को बहुत हंसी आई। हमारी पाठशाला के व्यवस्थापक गोविन्द बाबू ने इतने गंभीर विषय पर कविता करने के बारे में मेरे प्रति जरूर अचम्भा दिखलाया होता और मेरी इज्जत की होती।

गाने के बारे में श्रीकण्ठ बाबू का मैं खास शिष्य था। उन्होंने मुझे एक गायन भी सिखाया था और वह सुनाने के लिए वे हर एक के पास मुझे ले जाया करते थे। जब मैं गाने लगता था तब वे सितार बजा कर ताल देने लगते थे और जब मैं धुरपद तक आता था तब वे भी मेरे साथ गाने लगते थे। बार-बार एक ही पद को बोलकर हरेक सुनने वाले की ओर वे गर्दन हिला-हिला कर जिस तरह हंसते थे,

उससे यह मालूम होता था कि मानो श्रीकण्ठ बाबू यह चाहते है कि लोग उनके गुण को जानें और उनकी बड़ाई करें।

श्रीकण्ठ बाबू मेरे पिताजी के बड़े प्यारे भक्त थे। "वह ईश हमारे हृदयो का भी हृदय" इस विचार के बगाली गायन को उन्होने अच्छी तरह बैठा लिया था। मेरे पिता को यह गायन सुनाते समय श्रीकण्ठ बाबू को ऐसा कुछ सुख मिलता था कि वे अपनी जगह से एक दम कूद कर खडे हो जाते थे और बीच-बीच में बड़े जोर से सितार बजाते हुए "वह ईश हमारे हृदयों का भी हृदय" यह पद बोलते हुए मेरे पिता की ओर अपना हाथ बढा देते थे।

जिस समय वह बूढा आदमी मेरे पिता से आखिरी मुलाकात करने के लिए आया उस समय पिताजी चिसुरा नदी किनारे वाले बंगले में रोगशैय्या पर पड़े हुए थे। श्रीकण्ठ बाबू भी उस समय इतने बीमार थे कि दूसरे की सहायता के बिना उनसे उठा-बैठा तक नहीं जाता था। ऐसी हालत मे भी वे वीरभूमि से चिसुरा अपनी लड़की को साथ लेकर आए थे। बड़ी तकलीफ से उन्होंने मेरे पिता के पैरों की मिट्टी ली और फिर अपने घर चले गए। कुछ दिनो बाद वही उन्होंने आखिरी स्वांस ली। उनकी लड़की के द्वारा पीछे से मैंने सुना था कि आखिरी वक्त 'कितनी मधुर दया प्रभु तेरी' यह पद बोलते हुए उन्होंने प्राण छोड़े थे।

□

बनाता हूं।" उन्होंने एक ऊंचे नीतितत्व पर कविता रचने का हुक्म दिया। वह तत्व कौनसा था, यह मुझे अब याद नहीं है। उनकी इस विनती मे कितनी सज्जनता और सहजता थी, यह उनके छात्र ही समझ सकते हैं। मैं दूसरे दिन कविता बनाकर ले गया। तब उन्होंने सबसे बड़ी कक्षा में ले जाकर मुझे वहाँ के छात्रों के आगे खड़ा किया और कविता पढ़ने का हुक्म दिया। तब मैंने वह कविता ऊंची आवाज में पढ़कर सुना दी।

इस नीति तत्व वाली कविता की बडाई करने में अब एक ही कारण है और वह यह कि वह कविता तुरन्त ही खो गयी। उस क्लास के छात्रों के दिल पर कविता का नतीजा निराशाजनक ही हुआ। उसमें कविता बनाने वाले के प्रति आदर वृद्धि पैदा न होकर उन्हें यही भरोसा हुआ कि कविता किसी दूसरे की बनाई हुई होगी। एक छात्र ने तो यह भी कहा कि किस किताब में से कविता उतारी गई है, उस किताब को कल मै भी ला दूंगा। लेकिन उससे किताब लाने के बारे मे किसी ने नही कहा। जिन्हें किसी बात पर भरोसा ही करना होता है उन्हें उसके लिए सबूत इकट्ठे करना सताया जाना सा मालूम होता है। आखिर मे कविता बनाने वाले के यश के पीछे पड़ने वालो की गिनती बहुत ज्यादह बढ गई और उन्होंने इसके लिए नीति का रास्ता छोडकर दूसरे रास्ते का सहारा लिया।

आजकल छोटे बच्चे द्वारा कविता बनाना कोई वस्तु बड़ी बात नही मानी जाती। कविता का असर भी अक्सर खत्म सा हो गया है। उस वक्त जो थोड़ी सी औरतें कविता बनाया करती थीं, उन्हे विधाता की 'अनोखी दुनिया' की पदवी किस तरह मिलती थी, यह मुझे आज भी अच्छी तहर याद है। आज तो यह हालत है कि यदि किसी से कहा जाय कि अमुक जवान औरत कविता नहीं बना सकती तो उसे इस बात पर भरोसा ही नहीं होगा। आजकल तो बंगला भाषा की ऊंची कक्षाओं में जाने के पहले ही लडके और लड़कियो मे कविता का बीज फूटने लगता है, इसलिए मैंने जो ऊपर काव्य-विजय का वर्णन किया है, उस ओर आज का कोई भी गोविन्द बाबू उलझ कर भी नहीं देखना चाहेगा।

☐

मैं कविता करने लगा

माडी खड़ी रेखाओं के जाल में टेढ़े-तिरछे अक्षरों के लिखने से मधु-मक्खी के छत्ते सी वह नीली किताब भर गई और फिर जल्दी ही 'बाल-लेखक' के उत्कण्ठा से भरे दबाव से उसके पन्ने भी फट गए। उसके बाद कोने भी घिस कर बिगड़ गए और भीतर की लिखी हुई कविता की खूब पकड़ रखने के लिए ही मानो उस किताब की मुडी-मुडी भी हो गई। फिर मालूम नहीं किस वैतरणी नदी में दयालु समय ने उस किताब के पन्ने हड़प कर लिए। कुछ भी हुआ हो, पर यह ठीक है कि छापेखाने के दर्द से उसका छुटकारा हो गया और इस दुनिया की खाई में फिर पैदा होने का डर उसे नहीं रहा।

सरकारी बाबू हमारे समूह के अध्यापक नहीं थे, तो भी मैं उन्हें बहुत प्यारा था। उन्होंने प्राणी शाखा पर एक किताब लिखी थी। कोई भी सरल विनोदी लेखक इस किताब में मुझ पर के प्यार का कारण ढूंढने का यत्न नहीं करेगा ऐसी उम्मीद है। एक दिन उन्होंने मुझे बुलवाया और पूछा कि "तू कविता बनाता है न?" मैं भी सच्ची बात क्यों छिपाऊं? मैंने कहा—"हां।" तब वे समस्या की पूरी करने के लिए मुझे हमेशा दो दो पद देने लगे।

हमारे स्कूल के गोविन्द बाबू रंग के काले, कद के ठिगने और शरीर के खूब मोटे थे। वे व्यवस्था करते थे। काली पोशाक पहिन कर दूसरी मंजिल पर आफिस की कोठरी में हिसाब की वहियां देखते हुए वे बैठे रहते थे। सजा देने का अधिकार लिये हुए जज के समान उनके गम्भीर चेहरे से हम सब डरते थे। स्कूल में कुछ बदमाश छात्र भी थे। वे हमें बहुत सताया करते थे, इसलिए एक दफा उनके सताये जाने से अपना छुटकारा कराने के लिए उन लोगों की नजर चुराकर मैं गोविन्द बाबू की कोठरी में घुस गया। वे छात्र मुझसे उम्र में बड़े थे। उन्होंने मेरे खिलाफ जालसाजी रची थी। उस वक्त मेरे आंसुओं के सिवाय दूसरा कोई छात्र मेरी ओर से बोलने वाला नहीं था। लेकिन मेरी जीत हुई और तब से गोविन्द बाबू के मन में एक छोटी सी कोमल जगह मुझे भी मिल गई।

एक दिन बीच की छुट्टी में उन्होंने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया, डर से कांपते-कांपते मैं उनके पास गया। मेरे पहुंचते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि "क्या तू कविता भी बनाता है?" तब मैंने भी किसी तरह की आनाकानी न कर कहा कि "हां,

बनाता हूं।" उन्होंने एक ऊंचे नीतित्व पर कविता रचने का हुकम दिया। वह तत्व कौनसा था, यह मुझे अब याद नहीं है। उनकी इस विनती में कितनी सज्जनता और सहजता थी, यह उनके छात्र ही समझ सकते हैं। मैं दूसरे दिन कविता बनाकर ले गया। तब उन्होंने सबसे बडी कक्षा में ले जाकर मुझे वहाँ के छात्रों के आगे खड़ा किया और कविता पढ़ने का हुक्म दिया। तब मैंने वह कविता ऊंची आवाज में पढ़कर सुना दी।

इस नीति तत्व वाली कविता की बडाई करने मे अब एक ही कारण है और वह यह कि वह कविता तुरन्त ही खो गयी। उस कक्षा के छात्रों के दिल पर कविता का नतीजा निराशाजनक हो हुआ। उसमें कविता बनाने वाले के प्रति आदर वृद्धि पैदा न होकर उन्हे यही भरोसा हुआ कि कविता किसी दूसरे की बनाई हुई होगी। एक छात्र ने तो यह भी कहा कि किस किताब में से कविता उतारी गई है, उस किताब को कल मैं भी ला दूंगा। लेकिन उससे किताब लाने के बारे में किसी ने नही कहा। जिन्हे किसी बात पर भरोसा ही करना होता है उन्हें उसके लिए सबूत इकट्ठे करना सताया जाना सा मालूम होता है। आखिर मे कविता बनाने वाले के यश के पीछे पड़ने वालों की गिनती बहुत ज्यादह बढ़ गई और उन्होंने इसके लिए नीति का रास्ता छोड़कर दूसरे रास्ते का सहारा लिया।

आजकल छोटे बच्चे द्वारा कविता बनाना कोई वस्तु बड़ी बात नहीं मानी जाती। कविता का असर भी अक्सर खत्म सा हो गया है। उस वक्त जो थोड़ी सी औरतें कविता बनाया करती थी, उन्हें विधाता की 'अनोखी दुनिया' की पदवी किस तरह मिलती थी, यह मुझे आज भी अच्छी तहर याद है। आज तो यह हालत है कि यदि किसी से कहा जाय कि अमुक जवान औरत कविता नही बना सकती तो उसे इस बात पर भरोसा ही नही होगा। आजकल तो बंगला भाषा की ऊंची कक्षाओं में जाने के पहले ही लड़के और लड़कियो में कविता का बीज फूटने लगता है, इसलिए मैंने जो ऊपर काव्य-विजय का वर्णन किया है, उस ओर आज का कोई भी गोविन्द बाबू भूलकर भी नही देखना चाहेगा।

☐

बंगला शिक्षा का अंत

उस वक्त हम सबसे ऊंची क्लासों को नीची क्लासों में पढ़ाए जाने वाले विषयों की बजाय घर पर बंगला में हमारी ज्यादा पहुंच हो गई थी। अक्षय बाबू की 'सुगम पदार्थ विज्ञान' नाम की किताब सीख चुके थे। इसके सिवाय 'मेघनाद वध' नाम का महाकाव्य भी हम पूरा बाच चुके थे। 'पदार्थ विज्ञान-शास्त्र' में बताये पदार्थों की सहायता के बिना उक्त 'सुगम पदार्थ विज्ञान' नाम की किताब पढ़ने के कारण हमारा ज्ञान कोरा किताबी ज्ञान ही था और इस कारण उसके पढ़ने में जो वक्त लगा, वह बेकार हो गया। मुझे तो यह मालूम होता है कि यदि कुछ न पढ़कर वक्त यों ही बिता देता तो इससे अच्छा हुआ होता। 'मेघनाद वध' का विषय भी आनन्द देने वाला न था। भाषा के सरलपन का ज्ञान केवल बुद्धि के बल से ही नहीं होता, भाषा सीखने के लिए महाकाव्य का उपयोग करना सिर मूंडने के लिये तलवार का उपयोग करना, दोनो ही बराबर है। तलवार की बेइज्जती और सिर की बदकिस्मती। उसी तरह महाकाव्य की बजाय और सीखने वाले के हिस्से में फायदे के नाम जीरो, काव्य सिखाने का उद्देश्य अच्छे विचारो का पैदा होना और उसकी सार सभाल होना चाहिए। व्याकरण या शब्दकोश का काम काव्य देवता से लेने पर सरस्वती देवी खुश नही हो सकती।

अध्यापक शाला (स्कूल) मे हमारा जाना एकाएक बन्द हो गया। कारण यह हुआ कि हमारे एक मास्टरजी को श्रीयुत मित्र द्वारा हमारे दादाजी की जीवनी की बहुत जरूरत थी। यह किताब हमारी लाइब्रेरी मे थी। अत: इसके लिये मेरे भांजे और साथ पढने वाले सत्य ने बड़ी हिम्मत करके यह बात मेरे पिता से कहना मजूर किया। सत्य का मानना था कि मेरे पिता मे हमेशा की तरह सादी बगला मे विनती करने से कुछ ज्यादा फायदा नही होता। अतः उसने पुरानी भाषा के लहजे के द्वारा अच्छी तरह अपनी बात पिताजी से कही कि उससे उन्हें यह भरोसा हो गया कि हमारा बगला भाषा का अभ्यास इतना ज्यादा हो गया है कि अब इससे ज्यादा पढना फायदेमंद नही है। अत. दूसरे ही दिन हमेशा की तरह दक्षिण के बरामदे मे हमारी मेज रख दी गई थी। दीवाल के खीले पर पटिया रखा हुआ था और नीलकमल बाबू से सीखने की सब तरह की तैयारी हो रही थी कि पिताजी ने हम तीनो को ऊपर की मजिल पर अपने कमरे में बुलवाया और कहा कि आगे से तुम्हे बगला सीखने की जरूरत नही है। यह सुनते ही हम भी खुशी से झूमने लगे।

हमारी किताबें मेज पर खुली हुई पडी थी। नीलकमल बाबू नीचे हमारी बाट देख रहे थे और उनके दिल मे बेशक यह खयाल पैदा हो रहा था कि इन लडकों से एक दफा 'मेघनाद-वध' और बंचवा लिया जाय, लेकिन जिस तरह मौत के रास्ते जाने वाले इन्सान को नित्य क्रम की बातें झूठी मालूम होने लगती है, उसी तरह पल भर मे हमें भी हमारे पडितजी से लेकर खीले तक सब चीजें हिरण जल की तरह झूठी मालूम होने लगी। अब हमारा उनका रिश्ता ही क्या रहा ? हम उनके अब कौन हैं ? इस समय सिर्फ एक चिन्ता हमे थी कि यह बात नीलकमल बाबू से किस तरह सभ्य शब्दों में कही जाय। आखिर झिझकते हुए हमने यह बात उनसे कह दी। उस समय बोर्ड पर भूमिति की आकृति अचम्भे से और मेघनाद वध के 'अनुष्टुप' छन्द की कविता शब्द रहित होकर हमारी ओर देख रही थी। जाते समय पंडितजी ने नीचे लिखे विचार प्रकट किये:—"मेरा धर्म उचित तरीके से पूरा करने के लिये कभी-कभी मैंने तुम्हारे साथ कठोर बर्ताव किया होगा। लेकिन उस पर तुम ज्यादा खयाल मत करना। मैंने तुम्हें जो कुछ सिखाया है, उसकी कीमत तुम्हें बडे होने पर मालूम होगी।"

असल में उनकी सीख की क़ीमत मुझे आगे जाकर मालूम हुई। हमारे मन के विकास का पहलू हमें मातृ-भाषा में मिली हुई सीख ही है। सीखने का तरीका, हो सके वहां तक खाने के तरीके सा होना चाहिये। कौर को मुह में रखने पर ज्योंही चबाना शुरू होता है, त्योंही मुंह मे लार पैदा होती है और अनाज का दबाव पड़ने से पहले ही पेट भी अपना काम शुरू कर देता है, जिसके कारण पचनने की क्रिया के लिये जरूरी रस पैदा होकर भोजन का काम सही तरीके से होने लगता है। बगाली लडके को मातृ भाषा की बजाय अंग्रेजी शिक्षा देने से बड़ी सफलता नही मिल पाती। इसके पहिले ही कौर मे चबाने के साथ साथ दातों की कतारों के ढीले पड जाने का डर मालुम होने लगता है, मानो मुंह मे भूचाल ही हो रहा हो। मानो मुंह में डाला हुआ पदार्थ पत्थर की जाति का न होकर पचने काबिल है, इसका ज्ञान उसे होने के पहले ही उसकी उम्र का आधा हिस्सा निकल जाता है। वर्ण-रचना और व्याकरण पर सिर फुटौअल करना पड़ने से पेट भूखा ही रहता है और आखिर में जब उस कौर को चबाते वक्त उसके मुह मे लार पैदा होने लगती है तब भूख मर जाती है। पहले से ही जो पूरे मन को काम में नही लिया जाय तो उसकी ताकत आखिर तक बिना विकास के ही रहती है। अंग्रेजी में शिक्षा देने के बारे मे आन्दोलन होते हुए भी हमारे तीसरे भाई ने जो हमे मातृ-भाषा में सीख देने की हिम्मत की, उसके लिए मैं उस स्वर्गवासी भाई के लिए धन्यवाद सहित प्रणाम करता हूं।

□

[संगमा शिक्षा का

प्रोफेसर

स्कूल मे हमारी पढ़ाई बंद होने के बाद हमें 'बंगाली एकेडमी' नाम की एक अधगोरी (यूरेशियन) शाला मे भर्ती किया गया। अब हम बड़े हो गए थे और हमें कुछ महत्व भी मिल गया था। अब हमें मालूम होने लगा कि हम आजादी के मन्दिर की पहली मंजिल पर पहुंच गए हैं। वास्तविकता के साथ यदि कुछ कहना पड़े तो हम यही कहेंगे कि इस संस्था मे भर्ती होने के बाद यदि किसी विषय मे हमारी उन्नति हुई तो वह आजादी मे हुई, दूसरे किसी मे नही। क्योंकि हमें जो पढ़ाया जाता था उसे हम बिलकुल ही नही समझते थे और न समझने का कभी यत्न ही करते थे। हमारे कुछ न सीखने पर किसी को अपना नुकसान-फायदा भी नहीं मालूम होता था। यहा के लड़के यद्यपि खुरचाली करते थे पर यह सन्तोष की बात है कि वे बदमाश नही थे। वे अपनी हथेली पर Ass 'गधा' लिखते और हमारी पीठ पर उसका छापा मारकर हंस देते अथवा पीछे से हमें धक्का देकर ऐसे शान्त बन जाते थे मानों उन्हे कुछ मालूम ही नही है। धीरे से पीछे आकर सिर पर चपत जमाकर भाग जाते थे, इस तरह एक नही बीसों तरह की खुरचालें वे किया करते थे। इस स्कूल में भर्ती होने के बारे मे यही कहा जा सकता है कि हम आग में से निकलकर भूंबल मे आ पड़े। यद्यपि इससे हमे सताना हुआ पर कोई ईजा नही हुई।

इस स्कूल में एक बात मेरे सुभीते की थी। वह यह कि हमारे बराबर के बड़ों के लड़के सीखेंगे, इसकी वहा कोई आशा नही करता था। यह स्कूल छोटा सा था, जिसकी आमदनी खर्च के बराबर भी नही थी। हमारी फीस ठीक वक्त पर दी जाती थी। इसलिये वहां के आफिसर हमारे प्रति धन्यवाद भरी नजरो से देखा करते थे। यह भी एक बड़ा फायदा था। बड़े आदमी के लड़के और वक्त पर फीस देने वाले होने से यदि लैटिन व्याकरण हमें नही आता था तो भी हमे कोई सजा नही देता था। हम कितनी ही गलतिया करें, पर हमारी पीठ को उसके खातिर कभी इनाम नही दिया जाता था। इसका कारण यह नही था कि लैटिन सीखना हमे मुश्किल मालूम होता था इसलिए हम पर कोई रहम करता था, लेकिन हमारे साथ बर्ताव करने के बारे मे अधिकारियों ने शिक्षकों को खास तौर से आगाह कर रखा था।

कितनी भी उधमबाजियां न हुई तो भी आखिर तो वह स्कूल था। इस स्कूल की इमारत आनन्द देने वाली न थी। क्लासो की कोठरियाँ बहुत गन्दी थी और आस-पास की दीवालें पुलिस के पहरेदार सिपाहियों की तरह मालूम होती थी। उस जगह को इन्सान के रहने की जगह न कहकर यदि कबूतरखाना कहा जाय तो ज्यादा असलियत बताना होगा। वहाँ न कोई शोभा पैदा करने वाली चीज थी और न तसवीरें, रंग-बिरंगापन आदि था जिससे बालकों के मनों मे आकर्षण हो सके।

इस बात की लापरवाही की गई थी कि लुभावनी चीजों के चुनाव से लड़कों का मन लगता है। इसका आसान नतीजा यह होता था कि दरवाजे में से भीतर के चौक में जाते हमारा शरीर और मन निराश सा रहता था और इस कारण स्कूल में गैरहाजिर रहने का हम हमेशा यत्न करते थे।

ऐसी दशा मे हमे तरकीब भी सूझ गई थी। मेरे बडे भाई ने फारसी सिखाने के लिए एक 'मास्टर' रखा था। उसे हम 'मुंशी' कहा करते थे। वह मझली उम्र का दुबला-पतला आदमी था। उसमे न तो माँस का निशान था और न खून का कतरा ही। उसका सारा शरीर काला ठीकरा हो गया था, शायद वह फारसी अच्छी जानता होगा। अंग्रेजी भी वह अच्छी जानता था। पर इन दोनों बातों मे उसका खास ध्यान न था। अपनी गाने की चतुरता को सिर्फ लाठी के खेल के समान समझता था। हमारे यहाँ आँगन के बीचो-बीच गर्मी में वह खड़ा हो जाता और छाया को अपना दावेदार मानकर उसे अपने मजेदार लकड़ी के हाथ दिखलाया करता था। मेरे यह कहने की तो जरूरत ही नही है कि उसके बेचारे प्रतिपक्षी को कभी भी जीत हासिल नही होती थी। खेलते-खेलते आखिर में वह बड़े जोर से चिल्लाने भी लगता था और जीत का चेहरा दिखाता हंसते-हसते दावेदार के सिर पर लाठी का इस्तेमाल भी करता था। इससे उसकी लाठी उसके पैरों के पास आकर टकराने लगती थी। इसी तरह नाक के स्वर से निकलने वाले उसके बेसुरे गाने को भी गाना कौन कहेगा? वह मशान की जमीन मे से निकलने वाली डरावनी किकालियों का एक तरह से मिश्रण ही था। हमारे गायन-मास्टर जी कभी-कभी मजाक में उससे कहा करते थे कि देखो मुन्शीजी! तुम यदि इसी तरह का क्रम रखोगे तो फिर हमारी गुजर होना मुश्किल है। इस पर तिरस्कार भरे चहरे से वह कुछ हंस दिया करता था। बस यही उसका जवाब था ज्यादा नही।

उसके बर्ताव से हमने यह समझा कि मुंशीजी से जरा तरकीब से बोलने से काम बन जाता है बस इसी तरकीब से जब हम स्कूल को नहीं जाना चाहते थे तब कोई एक कारण बताकर मुंशी जी को इस बात के लिए राजी कर लेते थे कि, वहाँ स्कूल के अधिकारियो को हमारे न आने का कारण बना दें। स्कूल के अधि-

कारियों के पास वह जो चिट्ठी भेजता था, उसमें बतलाए हुए कारण ठीक हैं या नहीं, इसे जानने की वहाँ के अधिकारी परवाह नहीं करते थे और स्कूल में हमारे पढ़ने की जैसी कुछ प्रगति होती थी उस पर विचार करने से यह मालूम होता है कि स्कूल में जाने और न जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता था।

आजकल मेरा भी एक स्कूल है। उस स्कूल में भी सब तरह की खुरचालें करने वाले लड़के हैं। लड़के खुरचालें करने वाले होते ही हैं और उनके शिक्षक भी आँखों में तेल डालकर बैठे रहते हैं। लड़कों के बिगड़े बर्ताव से जब हमारा सिर फिर जाया करता है और हम सजा देने का इरादा करने लगते हैं, तब स्कूल में रहकर की हुई मेरी सब खुरचालें पंक्तिबद्ध होकर मेरे आगे कल्पना रूप में खड़ी हो जाती हैं और मेरे पहिले के हालात की याद दिलाती हुई मेरी ओर देखकर हसने लगती है।

अनुभव से मुझे अब भरोसे के साथ यह मालूम होने लगा है कि बहते हुए प्रवाह के समान छोटे बालक, चालाक और कोमल होते हैं, यह बात भूलकर, हम लोग बड़ी उम्र वाले आदमियों के बर्ताव की कसौटी से छोटे बालकों के भले-बुरे बर्ताव का इम्तिहान करते हैं पर यह वहम है और इसलिए बाल चरित में कुछ कमी होने पर आकाश-पाताल एक करने की कोई जरूरत नहीं है। प्रवाह का जोर ही सुधार करने का, दोष दूर करने का अच्छा साधन बन जाता है। लेकिन जब प्रवाह बंद होकर पानी के छोटे-छोटे डबके बन जाते हैं, तब वास्तव में बहुत अड़चन पड़ती है। इसलिए अव्यवस्थित बर्ताव के बारे में सावधानी की जरूरत छात्रों की बजाय शिक्षक को ही ज्यादा है।

सब लोग अपनी जाति के कायदे निभायें, इस दृष्टि से बंगाली छात्रों के भेंट के लिए हमारी स्कूल में स्वतन्त्र स्थान तय था। अपने दूसरे बंगाली भाईयों से दोस्ती करने की यही जगह थी। वे सब लड़के उम्र में मुझसे बड़े थे। उनमें से एक लड़के के बारे में कुछ लिखना नुकसानदायक नहीं होगा, ऐसी उम्मीद है। इस लड़के में यह खासियत थी कि वह जादू का खेल करने में ज्यादा ही चतुर था। इस बारे में एक किताब भी लिखी थी और वह छप भी गई थी। किताब के ऊपर उसके नाम के पहले 'प्रोफेसर' शब्द भी झलक रहा था। इसके पहिले किसी भी लड़के का नाम छपा हुआ मैंने नहीं देखा था। इसलिए जादू के प्रोफेसर के नाम से उसके प्रति मुझमें एक खास तरह की आदर का भाव पैदा हो गया था। उस वक्त मैं समझाता था कि ऐसी कोई बात नहीं छप सकती जो वहम भरी हो। कभी न पूछने वाली और उड़ने वाली स्याही से अपने नाम के अक्षरों को छाप कर हमेशा के लिए पक्का बना देना कोई छोटी-मोटी बात नहीं है और न अपने छपे शब्दों द्वारा संसार के आगे खड़े होने में कम पुरुषार्थ ही है। इस तरह का अपने आप पर भरोसा आँखों के आगे खड़े होने पर

कौन उस पर भरोसा न करेगा। एक दफा मैंने एक छापेखाने में से अपने नाम के अक्षर छापने के लिए मगाए और जब उन पर स्याही लगाकर मैंने अपना नाम छापा तो उसे देखकर मैं समझा, वाह, यह कितनी याद रखने लायक बात हुई।

हमारे इस गुरु भाई और पुस्तक लिखने वाले दोस्त को कभी-कभी हम अपनी गाड़ी मे जगह दिया करते थे। इस कारण हम दोनों का प्रेम बढने लगा और बराबर मुलाकात होने लगी। वह नाटक मे भी अच्छा पार्ट लेता था। उसकी सहायता से हमने अपने तालीमखाने मे एक स्टेज रगभूमि बनाई थी। इसकी चौखट बास की थी, जिस पर कागज चिपका दिये थे, पर ऊपर से नाटक करने की मनाही का हुक्म आने मे हम इस रगभूमि में खेल न कर सके, इसलिए हमें बड़ी नाउम्मेदी हुई।

इसके बाद बिना स्टेज के ही हमने 'भ्राति कृत चमत्कार' नाम का नाटक खेला। पढने वालो को इस नाटक के बनाने वाले की जानकारी इस जिन्दगी की याद मे पहले ही दिया जा चुका है। वह हमारा भाजा सत्य था। इसकी आजकल के शांत और गम्भीर स्वभाव को यदि कोई देखेगा तो उसे यह सुनकर जरूर ही अचम्भा होगा कि बचपन मे यही आदमी अनेक खुरचालें करता रहा है। मैं यह जो कुछ लिख रहा हू, यह हादसा मेरी बारह-तेरह साल की उम्र के बाद का है। हमारे जादूगर दोस्त ने कितनी ही चीजो के चमत्कार भरे गुण और काम बतलाए थे। उन चमत्कारो को देखने की मुझमें बड़ी इच्छा थी। लेकिन् उसने जो चीजें बतलाई थी, उन चीजो का मिलना बडा मुश्किल था। एक दफा ऐसी दिल्लगी हुई कि प्रोफेसर साहब प्रयोग मे इतने डूब गये कि मिलने वाली चीज का नाम ही उन्हे याद नही रहा। उस चीज के रस में इकतीस दफा बीज को भिगो देने पर तुरन्त ही उसमें अंकुर फूटते हैं, फिर फूल आते हैं और इसके बाद फल लगने लगते हैं और यह सब कुछ एक घड़ी के भीतर ही भीतर हो जाता है। भला इस बात पर कौन भरोसा करेगा। यद्यपि जिसका नाम किताब पर छपा हुआ है, हमारे उस प्रोफेसर की बात पर मैंने अविश्वास तो नही किया, पर इस बात की आजमाइश करने का इरादा जरूर किया।

हमने अपने माली द्वारा उस जड़ी का ढेर सारा रस मंगवाया और एक रविवार के दिन आम की गुठली पर आजमाइश करने के लिए मैं ऊपर के एक कोने मे जादूगर बन कर बैठा। गुठली को रस में डुबाने और सुखाने के काम में मैं बिलकुल गड़ सा गया था। मेरी इस क्रिया का क्या नतीजा हुआ, यह जानने के लिए हम उम्र के पाठकों को ठहरने की जरूरत भी नही है। इधर दूसरे कोने में सत्य ने अपने आप जादू का पेड़ तैयार किया था, उसमें एक घड़ी के भीतर अंकुर फूट निकला था, यह बात मुझे मालूम नही हुई। आगे जाकर इस अंकुर में चमत्कार भरे फल लगने वाले थे।

इस आजमाइश के बाद प्रोफेसर साहब हमसे अलग रहने लगे। यह बात धीरे-धीरे हमारे भी ध्यान में आ गई। गाडी में वह हमारे पास बैठने से झिझकने लगा। वह हमें देखकर गरदन नीचा कर लिया करता था।

एक दिन स्कूल मे उसने यह बात पेश की कि सब अपनी अपनी बारी से बेंच पर कूदे। उसमें इसने हरेक की चतुराई आजमाने की बात बताई थी। जादू के प्रोफेसर में इस तरह की शास्त्रीय इच्छा होगी, अचम्भा नहीं था। खैर! हम सब कूदे। मेरे कूदने पर उसने 'हूं' कह कर गर्दन हिलाई, हमने उसके मन का मतलब जानने को उसे बहुत कुछ हिलाया-डुलाया, लेकिन उसके मुंह से इससे ज्यादा कुछ न निकला।

फिर एक दिन उसने हमसे कहा कि हमारे कुछ भले दोस्तों की आपसे जानकारी करने की इच्छा है, इसलिए आप मेरे घर चलें। हमारे घर से भी हमें इजाजत मिल गई और हम उसके साथ गए। वहा बहुत से लोग इकट्ठे थे और अचम्भे में डूबे से लगते थे। उन लोगों ने मुझसे कहा कि हमें तुम्हारा गाना सुनने की बड़ी इच्छा है। उनकी इच्छा के अनुसार मैंने एक दो पद गाए। मैं एक छोटा बालक था, इसलिए मैं बैल की तरह थोडे ही डकार सकता था। मेरे स्वर को सुनकर सब लोग वाह! वाह! करने लगे और कहने लगे कि बहुत मीठी आवाज है।

फिर हमारे आगे नास्ते का सामान रखा गया। हमारे खाने के वक्त सब लोग हमारे आस-पास बैठ गए और हमें बड़े गौर से देखने लगे। मैं स्वभाव से शर्मिला था। इसके सिवाय दूसरे लोगो के साथ बैठने की मुझे आदत भी नहीं थी। और भी एक बात थी कि हमारे नौकर ईश्वर के कारण मुझे थोडा खाने की आदत पड़ गई थी। इसलिए वहां मैंने बहुत कम खाया। मेरे इस बर्ताव के कारण उन लोगों का यह पक्का खयाल हो गया कि मैं खाने में बड़ा नाजुक हू। इस नाटक के आखिरी अंक में मुझे उस प्रोफेसर ने कुछ प्रेम भरी चिट्ठियां भेजी। उन पर वे सब बात खुल गई और हमारे उनकी जानकारी का आखिरी पर्दा गिर गया। आगे जाकर सत्य से मुझे मालुम हुआ कि अच्छी तरह से शिक्षा देने के लिए मेरे पिता ने मुझे लड़कों जैसे कपड़े पहना रखे हैं, असल में मैं लड़की हूं। आम की गुठली पर जादू की आजमाईश करते वक्त सत्य ने यह बात मेरे मन पर अच्छी तरह जमा दी थी।

जादू के खेल में मजा का अनुभव करने वालों से ऊपर की बात का इस तरह खुलासा करना ठीक मालूम होता है कि लोगों का यह भरोसा है कि लडकिया बाया पैर आगे करके कूदती हैं। प्रोफेसर ने जब मुझसे कूदने को कहा था, तब मैं इसी तरह कूदा था। यही देखकर उसने 'हूं' कहा था। उस वक्त मेरी कितनी भारी भूल हुई कि यह बात मेरे खयाल तक में नही आई।

□

मेरे पिता

मेरे पैदा होने के तुरंत ही मेरे पिता ने बारहों महीने इधर-उधर दौरा करना शुरू कर दिया। इस कारण यदि यह कहा जाय तो बढ़कर नही होगा कि बचपन मे उनसे मेरी बिलकुल ही जानकारी नही हो पाई थी। कभी-कभी अचानक रूप से घर पर आते थे। उस वक्त उनके साथ दौरे वाले नौकर-चाकर भी रहते थे। उन नौकरों के साथ मिलाप करने की मुझे बड़ी इच्छा रहती थी। एक दफा लेनू नामक जवान पंजाबी नौकर उनके साथ आया था। हमने जो उसकी प्रेम भरी मेहमानवाजी की, वह महाराजा रणजीत सिंह की खातिरदारी से कम नही थी। वह जाति से ही परदेशी नही था, लेकिन नीचे से ऊपर तक भी परदेशी था। इस कारण उस पर हमारा बहुत प्रेम हो गया था। सारे पंजाबी प्रांत के प्रति महाभारत के भीम और अर्जुन के समान ही हमारा आदर भाव था, क्योंकि वे लड़ने वाले लोग हैं। यदि लड़ाई के मैदान मे लड़ते लड़ते उनकी कभी हार हुई तो उसमे उनके दुश्मन का ही दोष समझना चाहिये। ऐसे बहादुर पंजाबी का हमारे घर मे होना, हम अपना गहना समझते थे। मेरी भौजाई के पास लड़ाकू जहाज की नकल का खिलौना था। वह कांच की आलमारी मे रखा रहता था। चाबी देते ही नीले रंग की रेशमी लहरों पर वह टिक् टिक् आवाज के साथ चलने लगता था।

चकित लेनू को उस खिलौने का चमत्कार दिखाने के लिए थोड़े समय के वास्ते वह खिलौना देने को मैं भौजाई से बड़ी हाथा-जोड़ी करता था। हमेशा घर मे रहने के कारण किसी भी नई बाहरी चीज का पता लगते ही मेरे मन पर उसका अनोखा असर पड़ा करता था। लेनू के असर का यही एक कारण था। रंग-बिरंगा, ढीला-ढीला चोगा पहिने हुए, इत्र और तेल बेचने के लिए आने वाले डीब्रियल नाम के यहूदी इत्र वाले की ओर भी मेरा मन इसी तरह जुड़ गया था। इसका भी यही कारण था। थैले के समान ढीले-ढीले पाजामे पहिन कर और कंधो पर बड़ी-बड़ी पोटलियां लटका कर आने वाले काबुली लोगों को देखकर भी मेरा मन अनोखे तरीके से मोहित हो जाता था।

मेरे पिता जब घर आते थे, तब उनकी सवारी के लवाजमे के आस-पास चक्कर लगाने से और उनके नौकरो के साथ मेल-मिलाप करने से हमें हल मिल जाता था। पिताजी के सामने जाने की हमें हिम्मत नहीं होती थी। एक दफा हमारे पिताजी हिमालय गये हुए थे। उन दिनो हिन्दुस्तान पर रूस की चढ़ाई करने

की अफवाह उडी थी। यह अफवाह लोगों में चर्चा का विषय बन गया था। मेरी माता की एक सहेली ने उसके पास आकर सहानुभूति के साथ नमक-मिर्च मिलाते हुए आने वाले खतरे का कल्पना भरा वर्णन किया कि तिब्बत की किस पहाड़ी में से रसिया की सेना पुच्छल तारे की तरह कब आ पहुंचेगी, यह कौन कह सकता है ? मेरी माता इस अफवाह से एकदम घबरा गई थी। हो सकता है कि परिवार के दूसरे लोग उस डर के हिस्सेदार बने न होंगे, इसलिए जब उसने देखा कि बड़े लोगों की सहानुभूति उसकी ओर नही है, तब उसने मेरा—लड़के का सहारा लिया।

उसने बड़े विनम्र शब्दो में मुझसे कहा कि एशिया की चढाई के बारे मे तू अपने पिताजी को खत लिख। आज तक मैंने पिताजी को कभी खत नहीं लिखा था। मां के कहने से लिखा हुआ मेरा यही पहला खत था। खत की शुरुआत किस तरह की जाए और उसका अंत किस तरह हो—वह मुझे बिलकुल मालूम न था। अत: मैं अपने जमीदारी के मुंशी महानद के पास गया और उसकी सहायता से मैंने सिरनामा लिखा। यद्यपि लिखा हुआ सिरनामा ठीक था, पर उसमे दरबारीपन आ गया था। समाचारो में भाव मेरे थे, पर उस पर दरबारी भाषा की छाप थी।

मेरे खत का मुझे जवाब मिला कि तुम कुछ फिक्र मत करो। यदि रशियन लोग चढाई करके आते ही होगे तो मै खुद ही उन्हे भगा दूंगा। इस निडर वचन से भी मेरी माँ का डर दूर नही हुआ, पर मेरे मन मे पिता के बारे में जो डर था, वह दूर हो गया। इसके बाद पिताजी को रोज खत देने की मेरी इच्छा होती थी और इसके लिए मैं महानन्द को सताया करता था। मेरा विचार बहुत ज्यादह होता था, अत: उसको तोडना कठिन होने के कारण वह मुझे लिख दिया करता था। वह मसौदा तैयार कर देता था, मैं उसकी नकल करता था, लेकिन मुझे यह नही मालूम था कि खत पर पोस्ट की टिकटें भी लगानी पड़ती हैं। मेरी यह कल्पना थी कि महानन्द को पत्र दे देने पर वे अपने स्थान पर जा पहुचते है। उनके लिए फिर कष्ट पाने की जरूरत नही होती। महानन्द मेरी बजाय उम्र में बडा था और वह सब बात समझता था अत: मेरे खत अपनी जगह पहुंच जाया करते थे।

बहुत दिनों बाद मेरे पिता घर पर थोड़े दिनों तक रहने के लिए आया करते थ। वे थोडे ही दिनों के लिए क्यों न आवें, पर उनका दबदबा घर-घर पर रहा करता। हमारे घर के दूसरे बड़े आदमियो को भी कपडे पहिन कर, चबाए हुए पान को थूक कर धीरे-धीरे शान्त चेहरे मे पिता के कमरे में जाते हुए हम देखते थे। सब लोग उस समय बहुत लगनशील लगते थे और रसोई घर में किसी तरह की अव्यवस्था न होने देने के लिए खुद मेरी मां उस पर देख-रेख करने लगती थी। किनू नामक एक बूढा चोबदार सफेद अंगरखा पहिने और सिर पर तुर्रेदार पगड़ी लगाए हुए पिताजी के कमरे के पास खड़ा रहता था और दुपहर के समय जबकि

पिताजी सो जाया करते थे, वह हमें बरामदे में शोर न करने के लिए चेतावनी दिया करता था। जब हमें पिताजी के कमरे के आगे से निकलना होता था तो कदमों की आहट न करते हुए धीरे-धीरे बिना कुछ बोले हम लोग निकलते थे। उनके कमरे में झुक कर देखने की हमें हिम्मत नहीं होती थी। एक बार हम तीनों भाईयो का व्रत बंध (कान-छेदन) करने के लिए पिताजी घर पर आये। इस संस्कार के लिए उन्होंने पं० वेदान्त वागीश की सहायता से वेद की पुरानी विधि मालूम की थी। उपनिषदों में से कुछ अच्छी बातें खुद ढूंढकर निकाली थी और उस सग्रह का नाम 'ब्रह्म धर्म' रखा था। प्रार्थना मंदिर में विचार बाबू की देखरेख में यह सग्रह स्वर पाठ सहित हमे सिखाने का काम कितने ही दिनों तक चला था। अन्त में हमारे सिर से बालों का सफाया करवाकर हमारे कान में सोने की बाली डालकर तथा पंडितजी की दीक्षा देकर हम तीनों को तीसरे मंजिल पर एकान्त मे तीन दिन तक रखा गया था। वह एक बड़ी सजा थी। बाली पकड़कर हम तीनो एक-दूसरे के कान खींचा करते थे। दूसरी दिल्लगी यह करते थे कि बरामदे में खड़े होने पर नीचे की मजिल में जब हम किसी नौकर को इधर से उधर जाते आते देखते तो ऊपर से पडधम पर हम एक थाप मार देते थे। नीचे वाला आवाज सुन-कर ऊपर देखने लगता था और हमें देखते ही सिर झुका लेता था। आम तौर पर यह नही कहा जा सकता कि एकान्त में हमने वे दिन वैराग्य या ध्यान मे रहकर बिताये हों। पुराने जमाने के आश्रमो मे भी हमारे समान कम लड़के न होगे। दस-दस, बारह-बारह साल की उम्र वाले अपना बचपन बलि समर्पण और मंत्रों का पाठ करने में ही बिता देते थे। यह बात किसी पुराने समय के लेख में लिखी हुई मिलने पर भी उस पर अंधी श्रद्धा रखने की कोई जरूरत नही है, क्योकि दूसरी किताबों की बजाय बाल-स्वभाव की किताब ज्यादह पुरानी और भरोसे लायक है।

ब्राह्मण होने की पूरी दीक्षा मिलने पर मैं लगन और एक मन से गायत्री का जप करने लगा। गायत्री की भाषा ही ऐसी है कि उस उम्र मे उसका मतलब जानना मुश्किल था। भुर भुवर और सुरग से शुरू हुए उस मंत्र की सहायता से मैंने अपनी ज्ञान-शक्ति के सीमित क्षेत्र को बढ़ाने का जो यत्न किया था, उसकी मुझे अच्छी तरह याद है। गायत्री के शब्दों का अर्थ करना मुझे कितना मुश्किल क्यो न हो गया, पर यह तय है कि शब्द का साफ अर्थ जान लेने का काम, इन्सान की बस की बात नही है। शब्द का अर्थ करना, यह शिक्षा का खास काम न होकर, मनके दर-वाजे खटखटाना ही उसका काम है। इस खटखटाने से किस बात का जागरण हुआ, यदि यह किसी बच्चे से पूछा जाय तो उसका वह कुछ भी जवाब न देगा। वह अपने मन का असली वर्णन शब्दों से नही कर सकेगा। इसका कारण यह है कि इन्सान शब्दों से जो बात कह सकता है उसकी बजाय कितना ही ज्यादह उलट-फेर भीतर में होता रहता है। मन मे बहुत सी बातें पैदा होती और नष्ट होती हैं। मन बहुत सी

बातों को समझता भी है, किन्तु उन सबको मशा होते हुए भी कह नहीं सकता है। मनुष्य की शिक्षा को माप यूनिवर्सिटीज की परीक्षा को मानने और उस पर पूरा भरोसा रखने वाले लोग ऊपर की बात को बिलकुल ध्यान में नहीं रखते। ऐसी बहुत सी बातें, जिन्हें मैं बिलकुल नहीं समझता था, पर जो भीतर खलबली पैदा कर देतीं थीं, मुझे याद हैं। एक बार गंगा किनारे के बगीचे की गच्छी पर मैं खड़ा हुआ था, आकाश में बादलों का झुण्ड एकदम जमते देखकर मेरे बड़े भाई ने कालीदास की मेघदूत के कुछ पद पढ़े। उस समय संस्कृत का एक भी शब्द मैं नहीं समझता था और न समझने की जरूरत ही थी। परन्तु साफ और तेज आवाज में उन पदों को सुर के साथ बोलने में उन्होंने जो आनन्ददायक बोलने का प्रदर्शन किया था, वही मेरे लिए काफी था। इसके बाद एक दिन इसी प्रकार मेरे अंग्रेजी समझने के पहले The old curiosity shoo नामक किताब की एक सचित्र प्रति मेरे हाथ लगी। कम से कम शब्द मुझे आते थे तो भी मैंने वह किताब पूरी पढ़ डाली थी। समझे हुए शब्दों की सहायता से कुछ साफ कल्पनाओं को बनाया व उनकी सहायता से किताब के विषय को गूंथने के लिए रंग-बिरंगा धागा मैंने बुना। विश्वविद्यालय के किसी भी परीक्षा लेने वाले ने मुझे, मेरे इस बात के बांचने के बारे में नम्बरों की जगह जीरो ही दिया होता, पर असल में देखा जाय तो मेरा किताब बाँचना बेकार न हुआ।

एक दफा मैं अपने निजी डोंगे पर पिताजी के साथ गंगा नदी में सैर करने के लिये गया हुआ था। उन्होंने अपने साथ जो किताबें ली थीं, उसमें गीत गोविन्द की एक फोर्टविलियम प्रति भी थी। वह किताब बंगला लिपि में छपी हुई थी। उस समय मुझे संस्कृत नहीं आती थी, परन्तु बंगाली का बहुत कुछ ज्ञान हो गया था। इसलिए उसमें बहुत से मेरे पहचाने शब्द थे। यद्यपि मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने गीत गोविन्द को कितना दुहराया था, पर एक लाइन मुझे अच्छी तरह याद है—

"निभृत निकुंज गृहं गतया निशि रहसि विलीय वसतम्।"

इस पंक्ति से साफ सुन्दरता का माहौल मेरे मन के चारों ओर फैल गया था। वन में निर्जन कुटी, इस अर्थ का एक ही शब्द 'निभृत निकुंज गृहम्' मेरे लिए काफी था। यह किताब गद्य के समान छपी हुई होने के कारण छन्दों के अलग-अलग चरण एक दूसरे से मिल गये थे और उन्हें मुझे ही ढूंढना पड़ा था। इस खोज से मुझे बड़ा सुख मिला। यद्यपि जयदेव के पूरे अर्थ को समझना तो दूर रहा, उसके थोड़े से अर्थ को भी मैं समझ सका, यह कहना सचाई के विपरीत होगा, तो भी शब्दों का लय और छन्दों की मिठास ने अनोखा सुन्दर रूप बना कर मेरे मन को मोहित कर दिया था कि मेरे अपने काम के लिए शुरू से आखिर तक उस किताब की नकल किये बिना चैन नहीं पड़ा।

मेरी कुछ ज्यादह उम्र हो जाने पर कालिदास के 'कुमारसम्भव' का एक पद्य बांचने में आया। उस समय भी मेरी यही दशा हो गई थी। उस श्लोक ने मेरे मन को बहुत झकझोर दिया था। इस श्लोक की पहिली दो लाईनों का अर्थ मेरी समझ में आ गया था। वह यह था कि-'पवित्र गंगा के बहाव से हिमकरण उड़ा ले जाने वाली और देवदार के पत्तों को हिलाने वाली हवा।' पूरे श्लोक में कही हुई सुन्दरता को देखने की मुझे लालसा हुई। कुछ समय बाद एक पंडित ने मुझे आगे की लाईनों का अर्थ समझाया कि 'व्याध के शिर पर लगे परों को उडाने वाली हवा।' अर्थ से मुझे बड़ी निराशा हुई। इससे तो अर्थ जानने के लिए जब मैं अपने खयालों पर ही निर्भर था, तभी मुझे सुख होता था।

बचपन की बातों को याद करने का जो यत्न करेगा उसका यही विचार होगा कि बचपन में जो अनोखे फायदे हुए हैं, उनके और इकट्ठी ताकत के विकास के नतीजे आपस में कभी नहीं मिलते। हमारे भाट लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए उनके वर्णन में संस्कृत शब्द और गहरे विषयों का दिखाना भरा रहता है। सादे और भावुक लोगों को वे बातें समझ में नहीं आती, फिर उनका फायदा भी क्या ? बड़े-बड़े लम्बे संस्कृत शब्द और गहरे विषय, इनको यदि सुनने वाले न समझ सकें तो भी उनसे उनके साथ के विचार मालूम होते हैं और विचारों को गति मिलती है, यह क्या कम फायदा है ?

जो लोग शिक्षा की नाप-जोख वगैरह संसार की फायदे-नुकसान की तराजू में डाल कर करते हैं वे भी तौल की सुई की लापरवाही नहीं कर सकते। यद्यपि सीखे हुए पाठ में से कितने हिस्से को बच्चे समझ सके हैं, इसकी गिनती के द्वारा जानने का लोग इरादा करते हैं, परन्तु इसमें ज्ञान के उस नदन-वन-ज्ञान की भीतरी शक्ति कमजोर हो जाती है, जिसमें बच्चे और ज्यादह शिक्षा नहीं पाये हुए लोग रहते हैं। नतीजा यह होता है कि ज्ञान की भीतरी ताकत समाप्त हो जाती है और आकलन शक्ति के बिना किसी भी बात की जानकारी न होने का बुरा दिन आ जाता है।

आजकल ताकत के भयानक रास्ते का सहारा लिए बिना जानकारी करा देने वाला रास्ता, सरकारी रास्ता है। यह मार्ग बन्द कर देने पर संसार का बर्ताव हमेशा के अनुसार चलते रहने पर भी आजादी से चलने वाली सागर और पहाड़ की ऊंची चोटियां भी अपने वश में नहीं रह सकेंगी।

मेरे ऊपर कहे अनुसार उस उम्र में यदि मैं गायत्री के सारे अर्थ को न समझ सका, तो भी उससे कोई नुकसान न होकर कुछ न कुछ फायदा ही हुआ। मनुष्य मात्र में ऐसी एक ताकत रहती है कि किसी विषय को पूरी तरह न समझने पर भी

उसका काम नहीं रुकता, बल्कि अच्छी तरह चलता ही रहता है। एक दिन की मुझे याद है कि उस दिन हमारे पढ़ने के कमरे के एक कोने में चूने की गच्ची की जमीन पर बैठकर गायत्री के शब्दो का मैं विचार कर रहा था। उस समय मेरी आंखें डबडबाई, वे आंसू क्यों आए थे ? इसका कारण मेरी समझ में नहीं आया और यदि किसी ने आंसुओं का कारण जानना चाहा होता तो मैंने गायत्री को उसका कारण नहीं बताया होता। मेरे आंसू आने के कारण की जानकारी न होने में असल बात यह है कि मन में ज्ञान शक्ति के जो व्यापार चलते रहते हैं, उसका ज्ञान बाहरी संसार में रहने वाले "मैं" को नहीं हो पाता।

□

पिताजी के साथ यात्रा

मेरे सिर से बाल उतरवाने के कारण कमर में जेवड़ी बांधना आदि के बाद मुझे एक बड़ी चिन्ता पैदा हुई। गाय के दूध से तैयार होने वाले 'सन्देश, रसगुल्ला' आदि चीजों के बारे में यूरेशियन लडकों का कितना ही अच्छा विचार हुआ तो भी ब्राह्मणों के बारे में उनमें आदर की भावना का पूरा अभाव रहता है। हमसे छेड़-खानी करने के उनके पास जो कोई हथियार होते है, उन पर विचार न भी किया जाय तो भी हमारा मुंडन (केश कटाना) किया हुआ सिर ही छेड़खानी के लिए काफी था। इसलिए मुझे फिक्र था कि स्कूल में जाते ही अपनी छेड़खानी हुए बिना न रहेगी। ऐसे फिक्र के दिनों में एक दिन मेरे पिता ने मुझे ऊपर बुलाकर पूछा कि क्या तुम मेरे साथ हिमालय चलना चाहते हो? मैं विचारने लगा 'बंगाल एकेडमी' से दूर जाना और सो भी हिमालय पर, इस बात से मुझे जितना सुख हुआ है, यह बतलाने के लिए यदि मुझमें आसमान को आनन्द सुर से गुंजा देने की ताकत होती तो कितना अच्छा होता?

हमारे जाने के दिन मेरे पिता ने हमेशा की तरह भगवान की प्रार्थना करन के लिए घर के सभी लोगों को प्रार्थना मन्दिर में इकट्ठा किया। प्रार्थना पूरी हो जाने पर अपने गुरुजनों के चरण छूकर पिताजी के साथ मैं गाड़ी में जा बैठा। मेरे लिए पूरी पोशाक बनने का मेरी जिन्दगी में यह पहला ही मौका था। मेरे पिताजी ने खुद कपड़े और रंग का चुनाव किया था। नये कपड़ों में जरी के बेल-बूटों वाली मखमली टोपी भी थी। उस पर मेरे बिना बालों के सिर से न मालूम क्या नतीजा हो, इस डर से मैंने वह टोपी हाथ में ही ले ली थी। परन्तु गाड़ी में बैठते ही टोपी लगाने का पिताजी का हुक्म मिलने से मुझे टोपी लगानी ही पड़ी। पिताजी की नजर फिरते ही टोपी भी सिर से अलग हो जाती थी और ज्योंही उनकी नजर इस ओर हुई कि वह भी अपनी जगह पर आ जाती थी।

अपनी व्यवस्था और हुक्म के बारे में मेरे पिता बड़ी छानबीन करते थे। कोई भी बात बहम भरी या कच्चा रहने देना, उन्हें पसन्द नही था और न कुछ सबब बतलाकर टालमटूल करना ही उन्हें अच्छा लगता था। आपसी रिश्तों को नियमित करने के लिए उन्होंने कायदे बना दिये थे। अपने देश-भाईयो के समाज से इस बात में वे बिल्कुल अलग थे।

हम लोग, यदि एक-दूसरे के साथ बर्ताव करने में बेपरवाही कर जाते हैं

पहुंचे तब शाम हो चुकी थी। म्याने में बैठते ही मेरी आंखें झपकने लगी। जगने पर सुबह के उजाले में मेरा देखा हुआ दृश्य ज्यों का त्यों दिखे, इसलिये उस अनोखे दृश्य को सम्हाल कर रखने की मेरी इच्छा थी। मुझे यह डर मालूम होने लगा कि साझ के धुंधले उजाले में यदि आखें खुली रखकर उस दृश्य के कुछ हिस्से को देखेंगे तो सुबह के सुखमय समय में उस सुन्दरता का जो मीठा अन्दाज हमको मिलेगा, उसका नयापन कम हो जायेगा।

सुबह जगकर जब मैं बाहर आया तो उस वक्त भी मन थर-थर कांप रहा था। मेरे पहले जिन्होंने बोलपुर देखा था, उन्होंने कहा था कि दुनियां में कहीं न मिलने वाली एक बात बोलपुर में है। वह एक रास्ता है जो खास महल से लेकर नौकरों के रहने की जगह तक गया है। इस पर चलने वाले को न तो धूप लगती है और न बरसात में पानी की बूंद ही उन पर गिरती है। जब मैं बोलपुर पहुंचा तो रास्ते को ढूंढने लगा, पर मेरी सारी मेहनत बेकार गई और यह सुनकर आपको अचरज न होगा कि आज तक भी उस रास्ते का मुझे पता न लगा।

मेरा लालन पालन शहर में होने के कारण इस समय तक मैंने गेहूं के खेत नहीं देखे थे। ग्वालों के बच्चों के बारे में मैंने किताब में पढ़ा था और अपने खयाली चित्रपट पर उनकी एक सुहानी सूरत भी बनाई थी। सत्य ने मुझसे कहा था कि बोलपुर में घर के आसपास पके हुए गेहूं के खेत है, उनमें ग्वालो के बच्चों के साथ रोज खेला करते हैं। खेल में खास काम बाली को तोड़ना, भूंजना और फिर मसल कर खाना होता है। बोलपुर मे जाकर जब मैंने बड़ी बेचैनी से देखा तो वहां पड़ती जमीन पर गेहूं के खेत का नाम भी नही, आस-पास भले ही ग्वालों के लड़के होंगे पर दूसरे लड़कों के झुण्ड मे उन्हे कैसे पहिचाना जाय, यह एक बड़ा सवाल था।

मुझे जो बात नही दिखी, उसे मन से निकाल लेने को ज्यादह वक्त नही लगा, क्योंकि मैंने जो कुछ देखा, मेरे लिए वही भरपूर था। इस जगह पर नौकरों का राज नही था और मेरे आस-पास जो रेखा खिची हुई थी, वह इस सूनी जगह की देवी प्रकृति द्वारा खिची हुई क्षितिज पर की रेखा थी, इस रेखा के भीतर अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर भटकने को आजाद था।

इस समय मैं छोटा बच्चा ही था तो भी मुझे भटकने में पिताजी की कोई रोक-टोक नहीं थी। रेतीली जमीन में बरसाती पानी की वजह से जगह-जगह गड्ढे हो गये थे और जगह-जगह पर छोटी-छोटी टेकरियां बन गई थी, जिन पर बहुत से अलग-अलग सूरत के पत्थर पड़े हुएं थे। इन टेकरियों पर छोटे-छटे झरने बहते थे, जिन सभी मे मानो गुलिव्हर के वृतान्त को बड़ी शोभा मिल गई थी।

मैं इस जगह से अलग-अलग तरह और रंग के छोटे-छोटे पत्थर इकट्ठे करके अपने कोट मे भरकर पिताजी के पास ले आता था। पिताजी ने इस मेहनत को ओर

कभी लापरवाही नही की, बल्कि जोश भरे स्वर में हमेशा यही कहते थे–"वाह ! क्या अच्छे हैं, अरे ! तुझे ये कहां से मिले ?"

मैं तुरन्त ही जवाब देता था कि अभी तो और भी मिलेंगे, हजारो लाखों मिल सकते है, कुछ कमी थोडे ही है। मैं रोज इतने ही ले आया करूंगा। वे जवाब मे कहते थे–बहुत अच्छी बात है। हमारी उस छोटी सी टेकरी को इन पत्थरों से तू क्यो नही सिंगारता है ?

हमारे बाग मे एक हौज बनवाने का यत्न हुआ था, लेकिन जमीन में पानी बहुत गहरा होने के कारण खुदाई का काम बीच ही मे रोक दिया गया। खुदाई से निकली मिट्टी को एक जगह ढेर कर दिया था। इस ढेर की एक टेकरी सी बन गई थी, जिसकी चोटी पर बैठकर पिताजी सुबह उपासना किया करते थे। उनकी पूजा के वक्त ही, उनके सामने पूरवी क्षितिज से घिरे हुए और हलचल वाली पृथ्वी पर सूरज उगा करता था। मुझे जिस टेकरी को सिंगारने के लिए कहा गया था, वह वही टेकरी थी। जब हम बोलपुर से जाने लगे, तब मेरे इकट्ठे किए हुए सब पत्थर वहीं छोडने पडे। इससे मुझे बडा दु.ख हुआ। चीजो को इकट्ठा करने के एकमात्र कारण से उन चीजों से पास का नाता रखने का हमे कोई हक नही है, इस बात की जानकारी होना आज भी मुझे मुश्किल लगती है। इतने भारी आग्रह से की हुई मेरी बिनती मेरे भाग्य ने यदि मंजूर की होती और उन पत्थरो का बोझ वह हमेशा मेरे पास रहने देता तो आज भाग्य को मैं जितना बेरहम मानता हूं, उतना बेरहम मानने का शायद जिक्र ही नही आया होता।

एक बार एक दर्रे में मुझे एक झिरा दिखा। उसमें से छोटी नदी की तरह पानी बह रहा था। छोटी-छोटी मछलिया भी थी और बहाव के विपरीत चलना चाहती थी। मैंने अपने पिताजी से कहा कि मुझे एक सुन्दर झिर मिला है। क्या वहां से आपके नहाने और पीने का पानी नही लाया जा सकता ?

मेरे विचार वे मान गये और वे कहने लगे कि मैं भी तुमसे यही कहना चाहता था। फिर उस झिरे से पानी लाने के लिये उन्होने नौकर को आदेश दिया।

पहले जिन बातों की जानकारी नही थी, उन अनजान बातो पर उजाला डालने की इच्छा से उन छोटी-छोटी टेकरियो और पहाड़ियो पर मैं लगातार भटकता रहता था। इस भटकने से मैं कभी नही ऊबा। उस दिन सौंधी हुई भूमि मे फिरते वक्त मुझे सब चीजें दूरबीन की उलटी बाजू से देखने के समान छोटी-छोटी दिखलाई पड़ती थी। देखने वाला भी छोटा था और टेकरियों के नीचे की चीजें भी छोटी दिखलाई देती थी। नारियल, बेर, जामुन आदि के पेड़, पहाड़ियां, धबधबे, दरिया, नाले और उनमें मछलिया सब छोटी-छोटी दिखती थी। मानो आपस में ये सब छोटी उम्र के बारे में चढ़ा-ऊपरी कर रही हों।

मेरे पास थोड़े पैसे और थोड़े रुपये देकर उनका हिसाब रखने का पिताजी ने हुक्म दिया था। उनके इस काम का मतलब यह था कि मैं यह सीख जाऊं कि

परवाह के साथ साम किस कदर करना चाहिए। इसके सिवा अपनी ऊंची कीमत की घड़ियों को चाबी देने का काम भी उन्होंने मेरे सुपुर्द कर रखा था। मुझ में जवाबदारी के खयालात पैदा करने की मंशा से उन्होंने नुकसान की ओर नहीं देखा। हम दोनों साथ-साथ घूमने जाते थे। उस समय रास्ते में जो भिखारी मिलता, उसे कुछ देने के लिए वे मुझसे कहते थे। वे घर आकर मुझसे हिसाब पूछते थे। मेरा बतलाया हुआ हिसाब कभी बराबर नहीं मिलता था। एक दिन मैंने खर्च का हिसाब दिया, पर खर्च की रकम घटाकर रोकड़ में जितना बचना चाहिये, उससे रोकड़ में ज्यादा पैसे थे। इस पर पिताजी ने कहा कि–'तुझे ही मेरा खजांची बनना चाहिये, क्योंकि तेरे हाथ लगने से पैसे की बढ़ती होती है।

उनकी घड़ियों में इतनी जोर से चाबी लगाता था कि तुरन्त ही उन्हें घड़ी साज के पास कलकत्ते भेजना पड़ता था।

मुझे याद है कि जब मैं बड़ा हो गया, तब एक बार जमीदारी के काम की देखरेख करने के लिए मुझे लगाया गया। उस समय पिताजी की नजर कम हो गई थी, अत. हरेक महिने की दूसरी या तीसरी तारीख को मुझे जमा खर्च का आंकड़ा पिताजी को सुनाना पड़ता था। पहले तो मैं हरेक खाते की जोड़ की रकम सुनाता था, फिर जिस कलम पर उन्हें शक होता, उसकी तफसील पढ़ने का वे मुझे हुक्म देते थे। उस समय मैं उन्हें वही खर्च बतलाया करता था जो उन्हें पसन्द थे। उनकी नापसन्द के खर्चे टालकर मैं झट से दूसरी कलम पढ़ने लगता था, पर यह बात उनके खयाल में आये बिना नहीं रहती थी। इसलिए हरेक महीने के शुरू के दिन फिक्र के साथ बिताने पड़ते थे। मैं ऊपर कह चुका हू कि पिताजी को छोटी से छोटी बात पूछने और उसे खयाल में रखने की आदत थी। फिर वह हिसाब का आंकड़ा हो, जमा-खर्च की रकम हो, उत्सव की व्यवस्था हो, जायदाद बढ़ाने की बात हो या उसमें फेरबदल हो, कुछ भी हो, बिना पूछे वे नहीं मानते थे।

बोलपुर में नया बनवाया कुआ पूजा-मंदिर उन्होंने कभी नहीं देखा था, तो भी बोलपुर से आने वालों को पूछ-पूछ कर उन्होंने सारी जानकारी हासिल करली थी। उनकी याद अनोखी थी। कोई बात समझ लेने पर फिर उनकी याद से हटना बहुत मुश्किल था।

अपनी भगवद् गीता की किताब से उन्होंने अपने अच्छे श्लोकों का भाषानुवाद करने और उनकी नकल करने को मुझ से कहा था। घर में मुझे कोई पूछता भी नहीं था, लेकिन यात्रा में जब ऐसे खास काम मुझे सौंपे जाते थे तब मुझे वह प्रसंग अपने लिए बड़ी बधाई से लगते थे।

इस समय मेरे पास वाली नीले रंग की बही पूरी हो गई और जिल्द बंधी डायरी मुझे मिली थी। मुझे अपने खयालों के आगे कवि के रूप में खड़ा होना था।

अतः बोलपुर में रहते समय जब मुझे कविता बनानी होती तो नारियल के पेड़ के नीचे इधर-उधर हाथ-पांव फैलाकर कविता बनाना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

मुझे यही मालूम होता था कि इस तरह हाथ-पांव तानकर व इधर-उधर बेहाल पड़कर कविता करना, कवि की सच्ची राह है। इसी तरह कड़ी गर्मी में रेतीली जमीन पर पड़कर 'पृथ्वी राज पराभव' नामक वीर रस की कविता मैंने बनाई। उसमें वीररस भरा था तो भी उस कविता का अंत जल्दी ही हो गया। यानी उस डायरी ने भी अपनी बहिन उस नीली बही की तरह किया। उसका पता भी नहीं कि वह कहाँ खो गई।

हम बोलपुर से चलकर रास्ते में साहब गंज, दिनापुर, इलाहाबाद और कानपुर में थोड़े दिन ठहरते हुए अमृतसर जा पहुंचे। रास्ते में एक घटना हुई, वह मुझे अभी भी याद है। एक बड़े स्टेशन पर हमारी गाड़ी रुक गई। तब एक टिकिट चैक करने वाला आया और उसने हमारी टिकटें चैक की। वह मेरी ओर अजीब तरह से देखने लगा। मुझे ऐसा लगा कि मानो उसे कुछ शक हुआ हो। वह चला गया और फिर अपने एक साथी के साथ आया और हमारे डिब्बे के सामने कुछ कुल-बुलाहट करके वे दोनों फिर चले गये। अंत में खुद स्टेशन मास्टर आया और उसने मेरा आधा टिकिट देखकर पूछा कि क्या इस बच्चे की उम्र बारह साल से ज्यादह नहीं है?

पिताजी ने कहा—नहीं।

उस समय मेरी उम्र ग्यारह साल की थी, लेकिन उम्र की बजाय मैं ज्यादह बड़ा दिखता था। स्टेशन मास्टर ने कहा कि तुम्हें उसका भाड़ा पूरा देना चाहिए। पिताजी की आंखें लाल हो गई, लेकिन एक ही शब्द न कह कर उन्होंने अपनी पेटी में से एक नोट निकाल कर स्टेशन मास्टर को दिया। उसने नोट का खुल्ला मेरे पिताजी को लाकर दिया। पिताजी ने लेकर तुच्छता के साथ उसके आगे फेंक दिया। तब अपने समय का ओछापन देखकर शर्म से स्टेशन मास्टर वहाँ का वहा खड़ा रह गया।

अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर सपने की तरह मेरी आंखों के आगे आता है। तालाब के बीच में शोभित दरबार को मैं अपने पिता के साथ सुबह के वक्त कई बार गया था, वहा पवित्र गीता की अखण्ड ध्वनि हमेशा होती रहती थी। कभी-कभी उपासकों के बीच में मेरे पिता भी बैठ जाते और, उनके साथ-साथ प्रार्थना पढ़ते थे। एक पराये गृहस्थ को इस तरह मिलते देख वहाँ के लोगों को आनन्द होता था। शक्कर तथा मिठाई के प्रसाद के बोझे लेकर हम अपने डेरे पर लौट आते थे।

एक दिन पिताजी ने प्रार्थना करने वालों में से एक आदमी को अपने डेरे पर बुलाकर उससे उन पवित्र गानों में से कुछ गाने सुने। उसे जो विदाई दी गई उससे

वह खूब खुश हुआ होगा। इसमे शक नही। इसका नतीजा यह हुआ कि गवैयो ने हमारा इतना पीछा किया कि हमें अपने-आपको बचाने के लिए कठोर उपाय काम में लाने पड़े। जब उन गवैयो को यह मालूम हुआ कि हमारे डेरे पर आने की सख्त मनाही है तो वे हमे रास्ते में ही गांठने लगे। सुबह हम ज्योंही फिरने जाते त्योंही हमे कन्धे पर तम्बूरा लटकाये लोग मिलते। उन्हे देखते ही शिकारी की बन्दूक की नली देखकर, जिस तरह शिकार की दशा होती है, उस तरह हमारी भी दशा होती। हम ज्योंही तम्बूरे की आवाज सुनते त्योंही घबरा कर भागना शुरू कर देते थे, तभी हम उन लोगो से बच पाते थे।

साझ होते ही पिताजी बगीचे की ओर के बरामदे मे आ बैठते और मुझे गाने के लिये बुलाते थे। चांद का आना, उसकी किरणें पेड़ों के बीच से बरामदे के फर्श पर पडना और ऐसे समय में बिहाग राग गा रहा होता। पिताजी उस समय गर्दन नीची कर अपने हाथ मे हाथ मिला कर एकाग्र मन में सुना करते थे। साझ के उस दृश्य को मै आज भी याद करता हूं।

मै ऊपर एक जगह बता चुका हूं कि जब मैंने एक बार भक्ति के बारे में कविता बनाई थी और उसका वर्णन श्री कण्ठ बाबू ने पिताजी से किया था, तब बड़े आनन्द से उन्होंने उनकी हंसी उड़ाई थी। आगे जाकर उसकी भरपाई किस तरह हुई, वह मुझे याद है। माघ महीने मे एक त्योहार के समय पढ़े जाने वाले स्तोत्र मे बहुत से मेरे बनाये स्तोत्र थे।

इस समय पिताजी चिन्सुरा में बिमार थे। उन्होंने मुझे और मेरे भाई ज्योति को बुलाया। मुझे अपनी बनाई प्रार्थनाएं हारमोनियम पर गाकर सुनाने को कहा और भाई से हारमोनियम बजाने को कहा। उनमें से कितने ही गाने मुझे दो-दो बार गाने पडे थे। गीत खत्म होने पर उन्होने कहा कि—अपने देश के राजा को यदि अपनी भाषा की जानकारी होती और साहित्य की मिठास को वह समझता होता तो उसने जरूर हो कवि को इज्जत दी होती। लेकिन असलियत इस तरह न होने से यह काम मुझे ही करना पड़ेगा, यह कहकर मेरे हाथ मे एक दर्शनी हुंडी दी। परन्तु हमारी पढाई के कुछ दिनों बाद उन्हे अपनी भूल मालूम हुई। बेंजामिन फ्रेंकलिन बहुत ही व्यवहार कुशल आदमी था। उसके हिसाबी नैतिक संकोच से मेरे पिता को उसके प्रति नफरत हो गई थी। कुछ बातो के बारे में उसकी असलियत देखकर पिताजी अधीर हो जाते थे कि उसके प्रति बुरे शब्द कहे बिना नही रहते थे। मुझे सिखाने के लिए 'पीटरपार्ले' नामक पुस्तकमाला की कुछ किताबें पिताजी साथ लाये थे। शुरू में बेंजामिन फ्रेंकलिन नामक किताब उन्होंने चुनी। उन्हे यह मालूम हुआ कि इस किताब मे शिक्षा व विनोद दोनों होंगे। इसके पहले व्याकरण के कायदों को रटने के सिवाय मैं संस्कृत बिलकुल नही सीखा था। यात्रा के समय एकदम

'संस्कृत वाचन' किताब का दूसरा भाग पढ़ना शुरू किया और पढ़ते-पढ़ते खुद ही संस्कृत के रूप भी बनाने के लिए उन्होंने मुझसे कहा। बंगाली भाषा का जो मुझे ज्यादह ज्ञान हो गया था, उससे मुझे बहुत सहायता मिली। पिताजी ने शुरू में संस्कृत में लिखने के लिए बहुत प्रेरित किया। सास्कृत किताबों में मिले हुए शब्द भडार में कहीं-कही अम् और अन् का मनमाना उपयोग करके मैंने बडे-बड़े पद बना डाले थे। उन्हें संस्कृत की खिचड़ी ही कहना चाहिये। लेकिन मेरी इस जल्दबाजी से, उतावलेपन से, पिताजी ने मेरी कभी मजाक नही बनाई।

इसके बाद प्रोक्टर की सहज ज्योतिष की किताबें हमने पढी। इन किताबो को पिताजी ने सरल भाषा के द्वारा मुझे समझा दिया था। फिर इन किताबो का मैंने बगाली में अनुवाद किया। मेरे पिताजी अपने खुद के लिए जो किताबें लाये थे, उनमें Givin and Rome गिविन और रोम नामक एक दस-बारह भागों की बड़ी किताब थी। इस किताब की ओर मेरा मन खिचा करता था। यह बडी नीरस किताब थी। मन को लुभाने वाली बात तो उसमें नाम मात्र को भी न थी। मेरे मन मे उस समय यह विचार पैदा होता था कि मैं अभी छोटा है, समर्थ नही हूं, दूसरों के भरोसे हूं, इसलिए मुझे किताब बाचना भर है, पर जिन्हें बिना अपनी तेज इच्छा के किताबें बाचने की जरूरत नही है, वे बड़ी उम्र के आदमी किताबें बांचने का कष्ट क्यो उठाते हैं ?

□

हिमालय के ऊपर

लगभग एक महिने तक अमृतसर में रहकर 15 अप्रेल के करीब हम लोग डलहौजी हिल्स की ओर जाने को निकले। अमृतसर में पीछे-पीछे तो हम बिल्कुल ही ऊब गये थे और ऐसा दिन होने लगा था कि यहां से कब रवाना हों, क्योंकि हिमालय पर जाने की मुझे बहुत लालसा थी।

झपान में बैठकर पहाड़ी पर चढ़ते समय दोनों तरफ पहाडियां मिलती हैं। बसंत के सुन्दर फूलों से उस समय वे खूब सुन्दर थीं। रोजाना सुबह दूध-रोटी खाकर हम चलने को निकल पड़ते थे और सूरज ढलने के पहिले रात में आराम करने के लिए आगे के मुकाम के बगले में आश्रय लेते थे। सारे दिन मेरी आंखों को विश्राम नहीं मिल पाता था, क्योंकि मैं समझता था कि जरा भूल हुई कि कुछ देखने से रह जायेगा। पहाडी की ओर ज्योंही हमारा रास्ता मुड़ता था, त्योंही हमें सुन्दर छवि देखने को मिलती थी। विशाल जगल के पेड़ों की शोभा देखते ही बनती थी। तपोवन में बूढ़े ध्यानी मुनियों के पावों में बैठकर, एकाध छोटी आश्रम कन्या के खेलने के समान पेड़ों की छाया के नीचे से पानी के छोटे-छोटे से खबखबे काई जमे पत्थरों पर से आवाज करते हुए गिरते थे। ऐसी जगहों पर झपान उठाने वाले लोग आराम करने के लिए ठहर जाते थे। ऐसे स्थानों को देखकर मेरा प्यासा मन भीतर ही भीतर कहा करता था कि अरे! ऐसे सुन्दर स्थानों को छोड़कर आगे क्यों जा रहे हो? यही हम हमेशा के लिये क्यों नहीं रहते?

पहले दर्शन से बडा फायदा यह होता है कि उस समय मन को यह मालूम नही होता कि ऐसे-ऐसे सीन आगे आने वाले हैं। परन्तु जब मन को यह भरोसा हो जाता है कि आगे ऐसे बहुत से सीन देखने को मिलने वाले हैं तो वह अपना सारा लक्ष्य एक जगह पर न लगाकर दूसरे सीनों के लिए भी रख छोड़ता है। जब किसी चीज के न होने का मन को भरोसा हो जाता है तभी चीज की कीमत अज-माने की उसकी कंजूसी नष्ट होती है। कलकत्ते के रास्तों में जाते समय जब कभी-कभी अपने आपको उस जगह पर अनजान सोचता हूं, तब मुझे मालूम होता है कि लक्ष्य से नहीं देखने के कारण अपने से दूर रहने वाली कितनी ही ऐसी बातें हैं, जिन्हें हम देख सकते हैं। अनजान और अनोखे स्थानों के देखने के लिए मन को

ने जाने वाली चीज उस स्थान को देखने की तेज इच्छा रूपा भूख के अलावा दूसरी कोई नहीं है।

पैसे रखने की एक छोटी सी थैली पिताजी ने मेरे सुपुर्द कर दी थी, यात्रा में खर्च करने के लिए उन्होंने उसमें बहुत से पैसे रख दिये थे। उनके इस सोचने का कोई कारण था कि उस थैली को सम्हालने में मैं ही एक काबिल इन्सान हूं। उन्होंने यदि अपने नौकर 'किशोरी' के पास उसे रखा होता तो वह और भी सुरक्षित रह सकती थी। इस पर भी उन्होंने जो उसे मेरे पास रखा, इसमें मुझे एक ही बात लगी कि उससे मुझे कुछ सीखने को मिले। एक दिन ठहरने के स्थान पर पहुंचने के बाद वह थैली पिताजी को देना भूल गया और वह टेबिल पर पड़ी रह गई। इस गलती पर मुझे शब्दों की मार सहनी पड़ी।

यात्रा के मुकाम पर जब हम लोग डंडी से उतरते तब बगले में से कुर्सियां बाहर लाने के लिए पिताजी हुक्म देते थे। कुर्सियों के आ जाने पर हम उन पर बैठते थे। सांझ को रोशनी पड़ते ही पहाड़ों के साफ वातावरण में तारे साफ चमकने लगते थे। ऐसे समय मे पिताजी मुझे तारों की जानकारी कराते थे या ज्योतिष के बारे में बताते थे। बेक्रोटा में जो घर ले रखा था वह ऊंची चोटी पर था। मई महिने के थोड़े से दिन रह गये थे, तो भी वहां इतनी ज्यादाह सर्दी थी कि सर्दी की बर्फ अभी भी पेड़ो की जगहों पर जमी हुई थी।

ऐसी जगह पर आजादी से मुझे घूमने-फिरने देने में पिताजी को कतई डर न था। हमारे बगले के नीचे की ओर आस-पास लगे हुए देवदारु के पेड़ों से भरे पहाड़ का सिकुड़ा लेकिन लम्बा भाग था। इस जंगल में लोहे की सामी लगी हुई लकड़ी लेकर मैं आजादी के साथ भागता रहता था। कहां तो वह पेड़ों की कतारें, आकाश से जाकर लगे हुए राक्षस के समान दिखने वाले बड़े-बड़े पेड़ों की छाया और सदियों से जो सिर ऊंचा किये खड़े हुए हैं, इतनी उनकी प्राचीनता और कहां आजकल का एक लड़का जो उन पेड़ों के तनों के आसपास निडर होकर आजादी से घूम रहा है। उन पेड़ो की छाया में पैर रखते ही मुझे वहां किसी दूसरे व्यक्ति के होने का भान होता था।

मुझे जो कमरा दिया गया था, वह बंगले के एक सिरे पर था। बिछौने पर पड़े-पड़े बिना परदों वाली खिड़कियों में से तारों के धुंधले उजाले में दूर-दूर की हिमालय पहाड़ की चोटियां लकलक करती हुई मुझे दिखाई देती थी। कभी-कभी नींद में अध जगा हो देखता तो पिताजी बरामदे में लालरंग के दुशाले को चारों ओर लपेटे हुए उपासना करने के लिए बैठे दिखलाई पड़ते थे। उस समय कितने बजे होंगे, वह मैं सही तौर पर नहीं बता सकता था। जब इसके बाद एक नींद पूरी लेकर मैं जागता था तो पिताजी मुझे अपने बिस्तर पर जगाते हुए दिखलाई

पढ़ते थे। इस समय कुछ रात बाकी रहती थी। संस्कृत के शब्दों के रूप लेने और उन्हें याद करने का वह समय था। कड़ाके की सर्दी में रजाई में से उठाना जी लेने के बराबर है। पिताजी की उपासना खतम हो जाने पर सूरज उगने के वक्त हम लोग दूध पीते थे। इसके बाद मैं उनके पास खड़ा रहता था और वे उपनिषदों का पाठ पढ़ते-पढ़ते ईश्वर में ध्यान लगाते थे।

फिर हम लोग घूमने जाते थे। लेकिन मैं उनके साथ कैसे चल सकता था। मेरे से बड़ी उम्र के लोग भी उनके साथ चल नहीं सकते थे। इसीलिए कुछ समय बाद उनके साथ चलने की इच्छा मुझे छोड़नी पड़ती थी और किसी पास वाले आड़े-तिरछे पहाड़ी रास्ते से मुझे हार कर लौट आना पड़ता था।

पिताजी के लौट आने पर मैं उनसे अंग्रेजी सीखता था। दस बजने पर बर्फ के समान ठंडा पानी नहाने को मिलता था। पिताजी के हुक्म के बिना चुल्लू भर भी गर्म पानी यदि नौकर से मांगा जाय तो नहीं मिल पाता था। मुझे हिम्मत बंधाने के लिए पिताजी कहा करते थे कि जब हम छोटे थे, तब ठंडे पानी से ही नहाया करते थे।

वहां दूध पीना भी एक तरह की तपस्या थी। पिताजी को दूध बहुत प्यारा था और वे बहुत पिया करते थे। मुझमें यह वंश का गुण न होने के कारण कहो या पहले बताई परिस्थिति में मेरा लालन-पालन होने के कारण कहो, मुझे दूध अच्छा नहीं लगता था, लेकिन दुर्भाग्य से मुझे एकदम दूध पीना पड़ता था। इस कारण मुझे नौकर की दया पर रहना पड़ता था। वे मेरे दूध का प्याला आधे से ज्यादह भाग से भर देते थे। उनकी इस दया के बारे में मैं उनका बहुत आभारी रहता था।

दुपहर का भोजन हो चुकने पर फिर मेरा पढ़ना शुरू होता था, लेकिन हाड-मांस के इस शरीर को यह बात सहन नहीं होती थी। सुबह की बाकी नींद इस समय अपना बदला चुकाने की इच्छा करती और मैं ऊंघने लगता था। यह देखकर पिताजी मुझे छोड़ देते थे। उनके छोड़ते ही नींद भी न मालूम कहां भाग जाती थी और हमारी सवारी फिर पहाड़ों पर घूमने को निकल पड़ती थी।

हाथ में लोटा लेकर पहाड़ की एक चोटी पर से दूसरी चोटी पर मैं भटकता रहता था। पिताजी ने मेरे इस काम में कभी रोक-टोक नहीं की। उन्होंने हमारी आजादी में कभी हाथ न डाला। मैंने अनेक बार उन्हें न रुचने वाली बातें कहीं और की हैं। यदि वे चाहते तो एक शब्द से मुझे उन बातों को कहने या करने से रोक सकते थे, लेकिन उन बातों की नाकाबिलियत, मेरी अच्छी-बुरी बुद्धि द्वारा मुझे मालूम होने तक उनके बारे में कुछ न कहना ही उन्हें ठीक मालूम होता था। उन्हें पसन्द नहीं था कि हम किसी बात को यों ही मान लें। उनकी यही इच्छा रहती थी कि हम लोगों को किसी बात की सच्चाई तक पहुंचने पर ही मानना

चाहिए। वे यह समझते थे कि प्यार के सिवा कोई अनुमति बेकार है। वे यह भी जानते थे कि सच रास्ते को छोड़कर कितना भी भटका जाए तो भी आखिर वह फिर से मिले बिना नहीं रहता। मन का विश्वास हुए बिना जबरन या अच्छी श्रद्धा से सच मानने से सच की गहराई तक जाने का रास्ता बिल्कुल बंद हो जाता है।

जवानी में अभी मैंने कदम ही रखा था। मुझे यह खयाल आया कि बैलगाड़ी के द्वारा बड़े मार्ग से ठेठ पेशावर घर तक यात्रा की जाय। मेरे इस खयाल का दूसरे किसी ने समर्थन नहीं किया और उस खयाल को अव्यावहारिक ठहराने के लिए उसमें बेशक अड़चनें भी बहुत थी, लेकिन जब पिताजी से इस बारे में मेरी बात-चीत हुई तो उन्होंने जोश के साथ कहा—"बड़ी मजेदार कल्पना है, रेलगाड़ी से यात्रा करना यात्रा नहीं है।" इसके साथ ही साथ उन्होंने घोड़े पर या पैदल की हुई अपनी यात्रा का वर्णन किया। उन्होंने वर्णन में यह बिल्कुल नहीं आने दिया कि यात्रा में तकलीफ होती है या संकट आते है।

एक दूसरे मौके पर नीचे लिखी हुई घटना हुई। उस समय पार्कस्ट्रीट वाले मकान में पिताजी रहते थे और मुझे 'आदि ब्रह्म समाज' का मंत्री बने थोड़े ही दिन हुए थे। मैं पिताजी के पास गया और मैंने कहा कि मुझे समाज में दूसरी जाति के लोगों को अछूत समझ कर सिर्फ ब्राह्मण द्वारा उपासना का जो रिवाज है, वह पसन्द नहीं है। पिताजी ने मुझे यह रिवाज, यदि मुझसे हो सके तो रोकने की बिना किसी तरह की आना-कानी के मंजूरी दे दी, मुझे हक तो मिल गया पर पीछे से मुझे मालूम हुआ कि मेरे में यह रिवाज बंद करने की ताकत नहीं है। कमी की तो मुझे जानकारी थी, पर उसे दूर करने की मुझमें ताकत न थी और न काबिल इन्सान को खोज कर उससे काम निकलवा लेने की ही मुझमें शक्ति थी। किसी बात को तोड़ कर उसकी जगह पर दूसरी को रखने के उपाय भी मेरे पास नहीं थे। काबिल इन्सान को पाने तक, न होने की बजाय कोई तरीका होना ही ठीक है, पिताजी का भी यही तरीका इस बारे में रहा होगा, लेकिन मेरे आगे मार्ग की अड़चनों को रखकर मुझे निराश करने का उन्होंने कभी प्रयत्न ही नहीं किया।

जिस तरह पहाड़ों में मनमानी तरह से भटकने की उन्होंने मुझे आजादी दे रखी थी, उसी तरह खोज के काम में भी अपनी राह खोजने की मुझे छूट थी। मैं भूल करूंगा, इस डर से वे कभी आड़े नहीं आए और न मेरी आफत में फंस जाने का ही उन्हें डर ही हुआ उन्होंने मेरे आगे आदर्श रख दिया था, पर व्यवस्था का दण्ड उनके हाथ में न था।

यात्रा में मैं बीच-बीच में पिताजी से घर के बारे में बतियाता था। घर से यदि किसी का मेरे नाम खत आता तो मैं उन्हें बतलाता था। मुझे पक्का भरोसा है कि जो मजेदार बातें उन्हें दूसरों से नहीं मालूम होती थी, उनके मालूम होने का

मैं कारण बन गया था। मेरे बड़े भाई के, पिताजी के नाम खत आते थे। उन्हें पढ़ने की पिताजी ने मजूरी दे दी थी। मुझे पिताजी को किस तरह खत लिखना चाहिये, यह सिखाने का वह एक तरीका था क्योंकि बाहरी रीति-रिवाज और सदाचार का महत्व उन्होंने किसी भी तरह कम नहीं होने दिया था।

मुझे याद है कि एक बार मेरे दूसरे बड़े भाई का पिताजी के पास खत आया था, जिसमें उन्होंने अपनी नौकरी के बारे में और काम की ज्यादती के बारे में शिकायत के साथ लिखा था कि मरने तक को छुट्टी नहीं है। इस खत में संस्कृत शब्दों को भर दिया था। पिताजी ने इस खत का मतलब समझाने के लिए मुझे कहा था। मैं जैसा जान सका, वैसा अर्थ मैंने पिताजी को बताया, लेकिन उन्होंने कहा कि इसका सहज रीति से निकलने वाला मतलब दूसरा ही है। लेकिन मैं अपने झूठे गर्व से अर्थ को ठीक बतलाता रहा और जिरह करने लगा। दूसरा कोई होता तो मुझे डांट कर बंद कर देता, पिताजी ने शान्ति से मेरा कहना सुन लिया और मुझे समझाने का यत्न किया।

कभी-कभी पिताजी बड़ी मजेदार बातें मुझसे कहा करते थे। उनके समय के कई रंगीले जवान लोगों में उन्हें बहुत सी बातें मालूम थीं। वे कहा करते थे कि उस समय कुछ सुन्दर लोगों के अंग इतने नाजुक हो गये थे कि ढाके की मलमल की किनारें भी उन्हें चुभा करती और इस कारण किनार निकालकर पहनने का रिवाज उस समय सभ्यता का अंग बन गया था।

मैंने अपने पिताजी के मुंह से दूध में पानी मिलाने वाले एक गौली का हाल पहले पहल सुना, मुझे बड़ा आनन्द आया। लोगों को उस गौली के बारे में शक था कि वह दूध में पानी मिलाता है। इस समय एक ग्राहक ने अपने नौकर को चेताया कि आगे से ऐसा न हो, जरा ध्यान रखना। इसे कहने का फल यह हुआ कि दूध और ज्यादह पानी मिला हुआ आने लगा। आखिर उस ग्राहक ने खुद गौली से इस बारे में कहा तो गौली ने जवाब दिया कि यदि देख-रेख करने वालों की संख्या बढ़ी और उनको मुझे खुश करना पड़ा तो दूध ज्यादह से ज्यादह नीले रंग का होकर आखिर में उसमें मछलियां पैदा होने का मौका आयेगा।

इस तरह पिताजी के पास कुछ दिनों तक रहने के बाद उन्होंने मुझे किशोरी नौकर के साथ वापस भेज दिया।

मेरा घर पर वापिस आना

घर में रहते वक्त नौकरों के जुल्मी राज की जिस सांकल ने मुझे बांध रखा था, वह घर से बाहर कदम रखते ही टूट गई थी। यह सांकल मुझे फिर नहीं बांध सकी। घर वापिस आने पर मुझे थोड़े से हक मिले। इसके पहले तक तो मेरी यह दशा थी कि पास रहने के कारण मेरी ओर किसी की नजर ही नही जाती थी, लेकिन अब कुछ दिनो तक दूर रह आने के कारण पलड़ा ही फिरा हुआ नजर आया। अब सब की निगाहे मेरी ओर फिरने लगी।

आजादी के मिठास का अन्दाजा मुझे लौटते हुए यात्रा के दौरान होने लगा था। एक नौकर लेकर मैं अकेला ही घूमने जाया करता था। शरीर की मजबूती और मन के जोश से मेरे चेहरे पर एक तरह का तेज झलकने लगता था। मेरी टोपी पर लुभाने बेल-बूटे होने के कारण मैं तुरन्त सबकी नजर मे आ जाता था। टोपी के कारण मुझे जो जो गृहस्थ मिले, उन सब ने मेरी बडी हंसी उड़ाई। मैं लौट आया मेरा यह लौटकर आना सिर्फ यात्रा से लौटना ही नहीं, अपितु एक तरह से नौकरो की कोठरी से निकल अपने घर के भीतर उचित जगह पर वापस आना था। मेरी माता के कमरे में जब घर की औरतें इकट्ठी होतीं, तब मुझे इज्जत मिलती थी और सबसे छोटी भौजाई मेरे ऊपर प्यार का अमृत बरसाती थी।

बचपन मे औरत जाति की प्यार भरी सार-संभाल की जरूरत होती है। उजाला और दया की तरह ही संभाल की जरूरत होने के कारण छोटे बच्चे बिना पता दिये ही उसे पा लेते है। बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, त्यों-त्यों औरतों द्वारा फैलाये आस्था के जाल से छुट्टी पाने को बेचैन होते हैं, ऐसा कहना ठीक है, लेकिन जिस उम्र मे सार-संभाल की जरूरत है, उस उम्र में जिस अभागे की सार-संभाल न हो, उसे बहुत नुकसान होता है। मेरी भी यही दशा थी। जब नौकरो से छुटकारा हुआ और घर के भीतर मा के प्यार की वर्षा होने लगी, इस आनन्द का अनुभव और ज्ञान मेरे मन को विना हुए कैसे रह सकता था?

जब तक घर के भीतरी दालानो मे आजादी से मैं आ जा नही सकता था, तब वे इन्द्र के महल से लगते थे। मुझे बाहर से कैदखाने की तरह दिखलाई पड़ने वाली ड्योढ़ी आजादी की जन्म-भूमि मालूम पड़ती थी। जहा न स्कूल थे और न मास्टर। जहां किसी को भी अपनी इच्छा के विपरीत काम करने की जरूरत न थी। उस निड़र एकान्त जगह के निकम्मेपन के आस-पास मुझे गहराई फैली हुई लगती थी।

वहां किसी को भी अपने काम का हिसाब देने की जरूरत न थी। यह बात खास तौर पर मेरी सबसे छोटी बहिन पर लागू होती थी। वह हमारे साथ नीलकमल पंडित के पास पढ़ा करती थी। वह चाहे अपना पाठ ठीक तरह याद करे या न करे, पर पंडित जी के साथ के उसके बराबरी के वर्ताव में फर्क नहीं पड़ता था। जब दस बजे हम खाना खाकर स्कूल जाने की गड़बड़ में होते, तब वह अपनी खुली चोटी को पीठ पर इधर-उधर हिलाती हुई कभी भीतर जाती तो कभी बाहर आती और अपने को साथ ले चलने के लिए हमें रोका करती थी। इतने पर भी कभी हमारे साथ स्कूल जाती भी नहीं थी।

जब सोने के गहनों से सजी एक नई बहू हमारे घर में आई, तब तो ड्योढ़ी की गम्भीरता पहले से भी ज्यादह हो गई। वह आई दूसरे घर से थी, पर हमारे में से ही एक बन गई थी। अनजान होने पर भी पूरी जानकारी हो गई थी। इस नई बहू की ओर मेरा मन आकर्षित होने लगा। इसके साथ दोस्ती करने के लिए मैं बेचैन हो गया था। मैं बड़ी सूझ-बूझ और प्रयत्न से उसके पास जाता कि इतने में ही मेरी वही छोटी बहिन आ धमकती और "तुम लड़कों का यहां क्या काम है ? जाओ, बाहर जाओ" ऐसा कहकर मुझे वहां से निकाल देती। इस बेइज्जती और निराशा के कारण मेरे मन को बड़ा धक्का लगता था। उनके कमरे के दरवाजों की दरारों में से उनके भीतरी खेलों को हम क्या, कोई भी अच्छी तरह देख सकता था, पर उन लोगों के अनोखे भपकेदार खिलौनों को छूने के ही जब हम हकदार नहीं थे तो फिर उनमें से खेलने के लिए खिलौना मांगने की हिम्मत भला हमें कैसे हो सकती थी। हम लड़कों को कभी न मिलने वाली अनोखी चीजें भीतरी घर में होने के कारण हमें भीतरी घर अधिक प्यारा मालूम होता और उसकी ओर मन का झुकाव भी ज्यादह होता था।

इस तरह बार-बार भीतरी घर से निकाले जाने के कारण मैं इन सब चीजों से दूर पड़ गया था। गहरी दुनिया की तरह भीतरी घर भी मेरी ताकत के बाहर की चीज बन गया था। इसी कारण मेरे मन पर चित्र की तरह उसकी छाप पड़ गयी थी।

रात के नौ बजे, अघोर बाबू के पास पढ़ लेने के बाद मैं सोने के लिए भीतर जाता था। बाहर के दालान से भीतर के दालान तक जाने का एक लम्बा रास्ता था। इस रास्ते में टिमटिमाता हुआ दीया टंगा रहता था। इस रास्ते के आखिर में चार-पांच सीढ़ियां थीं, इन पर उस दीये का उजाला नहीं पड़ता था। इन सीढ़ियों पर से उतरकर भीतर के पहले चौक में जाते थे। इस चौक के आसपास बरामदा था, जिसके पश्चिमी कोने में पूरब की ओर से चांद का उजाला पड़ता था। इसके सिवाय और सब जगह अंधेरा रहता था। इस चांद के उजाले में घर की नौकरानियां इकट्ठी होतीं और पैर फैलाकर रुई की बत्तियां बटा करतीं और अपने घर-द्वार की बातें किया करती थीं, ऐसी कई तसवीरें मेरे मन पर अंकित हैं।

भोजन के बाद और सोने से पहले हम इसी बरामदे में हाथ पैर धोया करते थे। फिर अपने लम्बे-चौड़े बिछौने पर पड़ जाते थे। इसी समय तिकरी या शीकरी नाम की एक दाई आती और कहानियां या कविता सुनाकर हमें सुलाने का यत्न करती थीं। उस कहानी के खत्म होते ही चारों ओर सुनसान हो जाता था। इस समय मैं दीवार की ओर मुंह करके पडा रहता। चूना निकल जाने के कारण दीवार में जो कहीं-कहीं काले और सफेद धब्बे हो गये थे, उन्हें देख-देख मैं सोते समय उनमें से खयाली चित्र बनाया करता था। कभी-कभी जब मेरी आंख खुल जाती तो सरुप नाम का चौकीदार बरामदे के आसपास फिरता और गश्त लगाकर जो आवाज देता, वह भी मुझे सुनाई पड़ती थी।

हिमालय से लौटकर आने पर युग ही बदल गया था। मैं जिस इज्जत की सोच रहा था और जिसकी मेरे मन में बड़ी लालसा थी, वह इस अनजान सपने की दुनिया की तरह भीतरी घर से मुझे मिलना शुरू हो गई थी और वह भी क्रम से नहीं, एकदम। मानो मेरे पहले सब असंतोषों को मिटाना ही हो। इसी कारण मेरा दिमाग भी आसमान पर चढ गया।

इस छोटे से यात्री के पास यात्रा-वर्णन का बडा भारी सकलन था। असल में ढीलापन आया और वह भी इतना कि फिर सच्चाई और वर्णन का मेल नही बैठ सके। किसी वर्णन मे ढीलापन आया कि फिर उसमें रस भी नही रहता। इसलिए वर्णन की सरसता और नयापन बनाए रखने के लिए कोई न कोई नयी बात उस वर्णन मे मिलना जरूरी है। मेरी भी यही दशा थी।

हिमालय से लौटने पर जब गच्ची पर खुली जगह में शाम के वक्त मेरी मा और दूसरी औरतों का समूह जुडता, तब वहां खास वक्ता मैं ही हुआ करता था। अपनी मां की निगाह में अपना बड़प्पन कायम करने की इन्सान में तेज इच्छा होती है। बडप्पन पाना जितना आसान होता है, उतना ही अपनी इस इच्छा को रोकना भी मुश्किल होता है। मैंने नार्मल स्कूल में एक किताब में पढा था कि सूरज-जमीन से हजारो गुना बड़ा है। मैंने दौडकर यह बात अपनी मां से कही कि इस बात से यह साबित हुआ कि दिखने में जो छोटा दिखता है, उससे बड़प्पन की कुछ आशा है। हमारे बंगाली व्याकरण के ग्रंथ में छन्द व अलंकार के नियमों के उदाहरण के रूप में कविताएं दी गई थी। मैं इन्हें अपनी मां को सुनाया करता था। कभी-कभी प्रावटर के ज्योतिष शास्त्र से मुझे जो नई बातें मालूम हुई थी, उन्हें भी मैं पूरी की पूरी शाम के सम्मेलन में सुनाया करता था। मेरे पिताजी का नौकर किशोरी किसी समय दाशरथी का किया हुआ महाकाव्य का अनुवाद कण्ठस्थ पढ़ने वालों में से एक था। जब हिमालय में मैं और वह एक साथ बैठते तो वह मुझसे कहा करता था कि—"दादा! तुम जो हमारी मण्डली में होते तो आपने ऐसा कोई सुन्दर नाटक किया होता कि कुछ न पूछो।" यह सुनकर मुझे भी इच्छा होती कि अपने भी शायर बनकर अपनी कविता को जगह-जगह गाते फिरते तो कितना मजा

आता। किशोरी से मैंने बहुत से पद सीखे थे। औरतों के सम्मेलन के श्रोताओं को सूरज के प्रकाश मण्डल का शनि, चांद आदि ग्रहों के वर्णन की बजाय ये पद अधिक प्यारे मालूम होते थे और उन्हें सुनने के लिए वे बहुत आग्रह करती थी।

घर की दूसरी औरतो को रामायण के कृत्तिवास द्वारा किये गये बंगाली अनुवाद से ही सन्तोष लेना पड़ता था। वे मूल ग्रंथ को नहीं समझ सकती थी। मैंने अपनी माता से कह रखा था कि मैं पिताजी के पास वाल्मीकि द्वारा लिखी रामायण पढा करता था। उसमे सब संस्कृत ही सस्कृत है, मेरी मा इस बात से अपने आपको धन्य समझी और मुझे कर्त्तव्य वाला बताती। वह मुझसे कहा करती कि "अरे उस रामायण में से मुझे भी कुछ सुना।"

पर मैंने तो उस रामायण को नाममात्र ही बांची थी। सस्कृत की किताब में रामायण के उदाहरण दिये गये थे। मैंने उतनी ही रामायण पढ़ी थी और वह भी मैं अच्छी तरह समझ भी नही पाया था। माता के कहने पर जब मैंने इस हिस्से को फिर देखा तो मैं थोड़ा बहुत समझा हुआ भी भूल गया हूं–ऐसा मालूम पड़ा। जिसे मैं यह समझता था कि मुझे अच्छी तरह याद है, वही मैं भूल चुका था। इतने पर भी अपने मनोज्ञ बेटे की बुद्धि का बल देखने की इच्छा रखने वाली मां से मुझे यह कहने की हिम्मत नही हो रही थी कि मैं पढ़ा-पढाया भी भूल गया हूं। आखिर मैंने ज्यों-त्यो माता को पढ़ सुनाया। मैंने जो अर्थ किया, वह महर्षि के अर्थ से अलग था। मैं समझता हूं कि मां म बड़ाई पाने की लालसा रखने वाले बच्चे की हिम्मत पर बस कोमल मन के ऋषि ने स्वर्ग में जरूर माफ किया होगा, लेकिन गर्व मिटाने वाले मधु सूदन ने माफ नही किया।

मेरा यह अनोखा पराक्रम देखकर मां बहुत खुश हुई। वह अपने समान दूसरो को भी मेरे इस अचरज भरे काम के सुख मे भागीदार बनाना चाहती थी, इसलिए उसने हुकम दिया कि तुझे यह द्विजेन्द्र (सबसे बड़े भाई) को सुनाना चाहिये। अब मैं घबड़ाया। मेरे गर्व के चूर होने का मौका देख मैं बहाने बनाने लगा, लेकिन मेरी मां ने एक भी नही सुनी और द्विजेन्द्र को बुलवा ही लिया। उसके आने पर गद्‌गद् स्वर मे कहने लगी देख, रवी कितने अच्छे ढंग से रामायण बांचता है, तू भी सुन।

मेरे लिए अब बचने का कोई रास्ता न था। मुझे बांचना ही पढा। मालूम होता है कि आखिर उस मधुसूदन को मुझ पर दया आ गई और वह गर्व चूर करने को उतारू नही हुआ। उस समय मेरे भाई को भी कुछ पढने-लिखने का जरूरी काम था। माता के बुलाने पर वह आ तो गया, पर मेरे भाषानुवाद के काम मे उसने रुचि नही दिखलाई, इसीलिए कुछ श्लोक बाचते ही वह 'बहुत अच्छा' कहकर चला गया।]

भीतरी घर में प्रवेश हो जाने के बाद मुझे स्कूल जाकर पढ़ने का काम टेढ़ा लगने लगा। ऐकेडेमी से छुटकारा कराने के लिए मैंने अनेक बहाने बनाए। इसके बाद मैं सेंट जूनियर स्कूल में भर्ती किया गया, पर वहां भी वही हालत थी।

लहर आने ही मेरे भाई मेरे सुधार के लिए थोड़ा सा प्रयत्न करते और फिर छोड़ देते। इस तरह कुछ दिनों तक चला। आखिर में उन्होंने मेरी आशा छोड़ दी। मेरी एक सबसे बड़ी बहिन थी। एक दिन उसने कहा कि हम सभी को आशा थी कि रवि कोई बड़ा आदमी होगा, पर इसने तो हर तरह से निराश कर दिया।" मैं भी मानने लगा कि परिवार में अपनी कीमत कम होती जा रही है। इतने पर भी स्कूल रूपी चक्की के डंडे से अपने आपको बांध लेने का मुझ से इरादा नहीं हो सका। असल में वह स्कूल चक्की ही था, उसमें न केवल सुन्दरता ही नहीं थी अपितु हास्पीटिल और जेल के समान नफरत और क्रूरता का मेल हो गया था।

सेंट जूनियर स्कूल की एक खास बात मुझे आज भी ज्यों की त्यों याद है। वह बात वहा के शिक्षकों के बारे की है। यद्यपि सभी मास्टर एक ही तरह के नहीं थे, खासतौर पर हमारे ग्रुप के शिक्षकों में तो सयम का प्रश्न भी मुझे दिखाई नहीं पड़ता था। उन शिक्षकों में 'शिक्षण-मशीन' की बजाय कुछ भी नहीं दिखाई देता। यह शिक्षण मशीन पहले ही ताकतवर है। यदि यह मशीन धर्म के बाहरी रूपी पत्थर की चक्की से जुड़ जाय तो फिर जवान बालकों का मन पिलकर सूखे बिना नहीं रह सकता। भारी ताकत से चलने वाली तेल की घानी का यह सेंट जूनियर स्कूल एक श्रेष्ठ नमूना था, तो भी उस स्कूल में कुछ ऐसी बातें थी, जिनमें मेरा विचार वहा के मास्टरों के बारे में ऊंचा था।

मेरी यह याद 'फादर दी पेनरड' के बारे में है। हमसे उनका बहुत कम वास्ता पड़ता था यदि मेरी याद ठीक है तो मुझे इतना ही याद है कि उन्होंने हमारे ग्रुप के एक मास्टर जी की जगह पर कुछ दिनो तक काम किया था। ये जाति के स्पनिआर्ड थे। ऐसा मालूम होता था कि उन्हें अंग्रेजी बोलने में कुछ तकलीफ होती थी। इसलिए उनके पढ़ाने की ओर लड़कों का बहुत कम ध्यान जाता था और इस पर उन्हें मन में कुछ दुःख भी हुआ करता था। इस दुःख को उन्होंने चुपचाप बहुत दिनों तक सहा। मुझे इनके प्रति बहुत हमदर्दी थी और मेरे मन का खिचाव इनकी ओर रहता था। मैं नहीं कह सकता कि ऐसा क्यों हुआ करता था। वे कुछ शक्ल-सूरत से भी अच्छे नहीं थे, पर उनके चेहरे में कुछ खिचाव था कि मेरा मन उनकी ओर खिचे बिना नहीं रहता था। जब जब मैं उनकी ओर देखता, मुझे ऐसा भान होता कि मानो उसकी आत्मा पूजा में है और भीतर-बाहर शान्ति फैली हुई है।

कापी लिखने के लिए आधे घण्टे का समय नियत था। समय हाथ में कलम लेकर इधर-उधर देखने या कुछ [illegible] हुए बैठे [illegible] जाता

था। एक दिन फादर डी पेनरंड इस कापी के वर्ग में आए। वे हमारी बैठक के पीछे इधर-उधर घूम रहे थे। उन्होंने शायद यह देखा ही होगा कि बहुत समय तक मैंने कापी में कुछ नहीं लिखा। इसलिए वे सहसा मेरे पीछे ठहर गए और झुककर धीरे से उन्होंने अपना हाथ मेरे कन्धे पर रख दिया और प्यार से पूछा कि, 'ठाकुर! क्या तेरी तबियत ठीक नहीं है?' सवाल बहुत सीधा-सादा था, पर वह अभी तक मेरी यादों में ज्यों का त्यों मौजूद है।

इनके बारे में दूसरे लड़कों का क्या खयाल था, यह मैं नहीं कह सकता, पर मुझे तो उनमें भगवान का रूप मालूम होता था और आज भी उनकी याद भगवान के शांत मन्दिर में प्रवेश करने का परवाना दे रही है, ऐसा मालूम होता है।

इस स्कूल में और भी एक बूढ़े 'फादर' थे। इन पर भी सब बच्चों का प्यार था। इनका नाम 'फादर हैनरी' था। ये ऊंची कक्षाओं को पढाते थे। इस कारण मैं इन्हें अच्छी तरह नहीं जानता था। इनकी एक ही बात मुझे याद है। इन्हें बंगाली भाषा आती थी। इन्होंने नीरोद (नीरद)[1] नामक एक बालक से पूछा कि तेरे नाम का अर्थ बता। बेचारा निरोद अपने नाम के शब्दार्थ के बारे में अब तक बेफिक्र था। इसलिए इस सवाल का जवाब देने में वह आगा-पीछा करने लगा। इसके सिवाय गहरे और अनजान शब्दों से भरे हुए कोष ग्रंथों से कौन अपने नाम की छान-बीन करेगा? यह कहां की खटखट? यह तो अपनी गाड़ी के नीचे दबकर ऊपर से गाड़ी निकलने के समान ही दुर्भाग्य की बात है। आखिर निरोद ने जवाब दिया कि 'नि' यह अभाव दिखाने वाला शब्द और रोद यानी कि सूरज की किरण, इसलिए निरोद का अर्थ हुआ—'सूरज की किरणों को नष्ट करने वाला।

□

1. नीरद (नीर-पानी द (दा) देने वाला—बादल)

घरू पढ़ाई

इन दिनों पंडित 'वेदान्त वागीश' के लड़के 'ज्ञान बाबू हमारे घरेलू मास्टर थे। उन्हें जब यह मालूम हो गया कि स्कूल की पढ़ाई की ओर मेरा मन लगना मुश्किल है और इसके लिए कोशिश करना भी बेकार है, तब उन्होंने इस बारे में अपना यत्न करना बन्द कर दिया और दूसरे ही रास्ते का सहारा लिया। उन्होंने मुझे कालिदास का 'कुमार सम्भव' काव्य पढ़ाना शुरू किया और उसे समझाया। इसके बाद 'मैकबेथ' अंग्रेजी काव्य पढ़ाया। पहिले तो वे मुझे किताब का भाव बंगला में समझा देते थे और फिर समझाए हुए हिस्से का मुझसे पद्य में अनुवाद कराते थे। जब तक अनुवाद पूरा नहीं होता तब तक वे मुझे अपने कमरे में घेरे रहते थे इस तरह उन्होंने मुझसे पूरे नाटक का अनुवाद कराया। सौभाग्य से यह अनुवाद कहीं खो गया और अपने उस काम के बोझ में छुट्टी पाली।

हमारी संस्कृत पढ़ाई की प्रगति देखने के लिए भार पं० रामसर्वस्व को सौंपा गया था। उन्होंने भी अपनी पढ़ाई में नाराज मुझसे व्याकरण सिखाने का बेमतलबी काम छोड़ दिया और उसके बदले में हमें 'शाकुन्तल' पढ़ाना शुरू किया। एक दिन इन्हें मेरे द्वारा किया हुआ 'मैकबेथ' का पद्यानुवाद पं० विद्यासागर को दिखाने की इच्छा हुई और वे मुझे लेकर उनके घर गए। उस समय पं० विद्यासागर के पास रामकृष्ण मुखर्जी भी आये हुए थे और वहां बैठे थे। किताबों से खचाखच भरे हुए उनके कमरे को देखते ही मेरी छाती धड़कने लगी और उनकी गम्भीरता देखकर मुझे डर भी लगा। लेकिन साथ ही अपने काव्य के लिए ऐसे पहुंचे हुए श्रोता मिलने का पहला ही मौका होने के कारण मुझे यश की चाहना भी हुई। यहा से मैं नया उत्साह पाकर घर को लौटा। रामकृष्ण बाबू ने मुझे विदूषक पात्रों की भाषा व काव्य दूसरे रूपों में करने का ध्यान रखने को आगाह करके अपना समाधान किया।

मेरी इस उम्र में बंगाली साहित्य बहुत ही बाल्य-अवस्था में था। उस समय बाचने और बांचने लायक जितनी भी किताबें थी, शायद मैंने सभी पढ़ डाली थी। उस समय केवल बच्चों के पढ़ने लायक कोई अलग ये किताबें न थी। मैं यह भरोसे के साथ कह सकता हू कि इस तरह के बाचने से मुझे कोई नुकसान न हुआ। आजकल बच्चों के लिए साहित्य रूपी अमृत में मिलाकर उसकी स्निग्धता कम करने का यत्न किया जाता है। इस तरह के साहित्य में सिर्फ बच्चों के लायक बहुत सी बातों का वर्णन रहता है, लेकिन बच्चा बुद्धिमान प्राणी है, इस बात को नजर में

रखते हुए उनके उपयोग में आने लायक कोई भी बात इस तरह के साहित्य में नहीं होती। बच्चों के लिए साहित्य ऐसा होना चाहिये कि उसमें कुछ बातें उनकी समझ में आने लायक हों और कुछ आने लायक न हों। हमें अपने बचपन में जो किताब मिलती उसे पूरी बांच डालते थे और उसमें समझ और न समझ आया हुआ भाग हमारे मे विचार लहर पैदा करता था। बच्चो की ज्ञान-शक्ति पर बाहरी ज्ञान शक्ति का असर इसी तरह होता है। बच्चे को किताब की जो बात समझ में आ जाती है, वह उसे पचा लेता है और जो बात उसे समझ में नही आती है, वह उसे एक कदम आगे बढाने में सहायता करती है।

दीन बन्धु मिश्र के जो लेख छपे, उन्हें बांचने लायक उम्र उस समय मेरी नही थी। हमारी एक रिश्तेदार स्त्री उन्हें पढा करती थी। मैं कितना ही कहूं तो भी वे किताबें मुझे देने की उन्हें इच्छा ही न होती थी। उन्हें वे ताले मे बन्द करके रखती थी। उन किताबों को दुर्लभ समझने से मुझे और भी ज्यादह आग्रह हुआ कि किसी तरह से इन किताबों को पाना और बांचना चाहिये।

एक दिन दुपहरी के वक्त वे ताश खेल रही थी। साड़ी के पल्ले में चाबी बन्धी हुई थी। और उनके कन्धे पर वह पल्ला पड़ा हुआ था। मैं ताश के खेल में कभी ध्यान नहीं लगाता था। इतना ही नही, मुझे इस खेल से नफरत भी थी। लेकिन उस दिन का मेरे वर्ताव मेरी मन के विपरीत था। मैं खेल में लग गया था। जब वे एक दांव जीतने की हड़बड़ में थीं, तब मैंने चाबियाँ उनके पल्ले से खोलना चाहा, लेकिन मैं इस काम में चतुर न था, अतः पकड़ा गया। उन्होंने साड़ी के पल्ले को और चाबियो को अपनी गोदी में रख लिया और फिर खेलने लग गईं।

मुझे तो वह किताब पढ़ने की धुन थी। मैंने फिर एक तरकीब सोची। उन्हे पान खाने का भी शौक था, अतः मैंने उन्हें पान के बीड़े दिये। उन्हें खाकर वे थूकने को उठी। इस बार उन्होंने अपने पल्ले को फिर कंधे पर डाल लिया। अब मैंने अपना काम सफाई से किया और उसमें सफल हुआ। उनकी चोरी हो गई। किताबें मैंने पढ डाली। जब उन्हें मालूम हुआ, तब वे मुझ पर नाराज होने लगीं लेकिन कामयाब न हो सकी, क्योंकि उन्हें और मुझे दोनों को ही उस वक्त हंसी आ गई।

राजेन्द्रलाल मित्र एक अनेक विषयों से भरी मासिक पत्रिका निकालते थे। साल के सभी अंकों को इकट्ठा कर उसकी जिल्द बंधा ली गई थी और वह मेरे तीसरे भाई की आलमारी में थी। इसे भी मैंने पा लिया और पढ़ा। इसे बार-बार शुरू से आखिर तक पढ़ने से मुझे जो आनन्द होता था, उसकी याद आज भी मुझे

हैं। बिस्तरे पर चित लेट जाता और उस चौकोनी किताब को छाती पर रखकर पढ़ा करता था। उसमें से नावेल व्हेल मछली का वर्णन, पहिले के काजियों का न्याय और कृष्णकुमारी की कहानी आदि पढ़ने में कितनी ही छुट्टियों के दुपहर का समय बिताया है।

आजकल इस तरह के मासिक पत्र नहीं निकलते। आजकल मासिक पत्रों में या तो शास्त्रीय चर्चा रहती है या नीरस कहानियाँ या यात्रा वर्णन आदि की रेलपेल। इंग्लैण्ड में जिस तरह चेम्बर्स, कॅसल्स आदि ग्राम सुलभ ध्येय का दिखावा न कर अनेक विषयों का जिक्र करने वाले मासिक-पत्र निकलते हैं, उस तरह के हमारे यहाँ नहीं होते।

मैंने अपने बचपन में एक और छोटा सामाजिक पत्र पढ़ा था। इसका नाम था 'अबोध बाल्यूस'। इसकी जिल्द मुझे अपने सब से बड़े भाई के संग्रह में मिली। उसे मैंने उन्हीं के पढ़ने के स्थान के दाहिनी ओर जो गच्ची थी, उस दरवाजे की देहरी पर बैठकर कितने ही दिनों तक पढ़ा। बिहारीलाल चक्रवर्ती की कविता से मेरी पहली जानकारी इसी पत्र से हुई। इस समय तक मैंने जितनी कविताएँ पढ़ी थीं, उन सभी से इसी ने मेरे मन को लुभाया। उनके रस भरे काव्य का सहज स्वर मेरे मन में वन्य-संगीत के द्वारा लहरें पैदा करता था।

इसी मासिक पत्र में 'पॉल' और 'व्हर्जीनिया' नाम की किताब का करुण रस भरा अनुवाद पढ़ते-पढ़ते कितनी ही बार मेरी आँखों में पानी भर आया है। वह अनोखा सागर, उसके किनारे पर हवा के झोंकों से लहराते। नारियल के झुंड के ऊपर से उतरने का वह दृश्य, आदि वर्णन ने कलकत्ते में हमारे घर की उस गच्ची पर मृग तृष्णा पैदा कर दी थी। बंगाली बाल-वाचक और रंग-बिरंगे रुमाल को सिर पर लपेटे हुए 'व्यंजिनी' इन दोनों में उस सूने टापू के मार्ग में जो रमली के प्रेम के खिंचाव की कहानी चल रही थी, वह अनोखी ही थी।

इसके बाद जो किताब मैंने पढ़ी, वह थी बंकिम बाबू का 'बंगदर्शन' नाम का मासिक पत्र। इस पत्र ने बंगालियों के मन को हिला रखा था। पहिले तो नया अंक आने तक बाट जोहना मुश्किल होता था। उसके बाद जब वह आ जाता, तब पहिले बड़ों के हाथ में जाता और उनके पढ़ लेने तक मुझे जो बाट देखनी पड़ती, वह तो एकदम बर्दाश्त से बाहर थी। आज-कल तो इच्छा होने पर चाहे जो 'चन्द्रशेखर' और 'विष वृक्ष' को एक साथ पढ़ सकता है, परन्तु वह बहुत समय तक टिकने वाला आनन्द अब किसी को नहीं मिल सकता, जैसे कि हर महिने उत्कण्ठित रहना पड़ता था। आज आयेगा, कल आयेगा, ऐसा इन्तजार करना पड़ता था। कुछ हिस्सा इस अंक में पढ़ा, और कुछ आगे के अंक में। उनका प्रसंग याद रखना

घर की परिस्थिति

मेरे बचपन में मेरे भले की बात यह थी कि हमारे घर का माहौल साहित्य और ललितकलाओं से भरा हुआ था। मिलने आने वालों से भेंट करने के लिये एक अलग घर था। जब मैं बिल्कुल छोटा था, तब इस घर के अन्दर बरामदे के कठड़े से टिककर किस तरह खड़ा रहता था, यह मुझे अच्छी तरह याद है। यहां रोज शाम को उजाले दीप रखा जाता और सुन्दर-सुन्दर गाड़ियां आकर खड़ी होती। मिलने आने वाले लोगों का बराबर आना जाना जारी रहता। भीतर क्या होता था, यह मैं अच्छी तरह नहीं समझ पाता था, तो भी खिड़कियों के पास अन्धेरे में खड़ा होकर मैं बराबर भीतर के हालात देखता रहता था। यद्यपि भीतर की जगह मुझसे कुछ ज्यादह दूर न थी, लेकिन मेरे बचपन की दुनिया से इसका फासला बहुत ज्यादह था। मुझ से बड़ा मेरा एक चचेरा भाई था। इसका नाम गजेन्द्र था। पंडित तर्करत्न का लिखा हुआ एक नाटक यह हाल ही में लाया था। और उस नाटक को घर में जमाने का उसका काम चालू था। साहित्य और ललितकला के बारे में उसका उत्साह बेहद था। वह उन लोगों में सिरताज था, जो दिखाई देने वाले पुनः जीवन को सब ओर से व्यवहार में आया हुआ देखना चाहते हैं। इसमें और इसके साथियों में पोशाक, साहित्य, संगीत, कला और नाटक सम्बन्धी राष्ट्रीय भावना बड़े जोश के साथ पैदा हुई थी। इसने अलग-अलग देशों के इतिहास का बारीकी से मनन किया था और बंगाली में इतिहास लिखने का काम शुरू भी कर दिया था, लेकिन उससे पूरा न हो सका।

'विक्रमोर्वशीय' नाम का संस्कृत नाटक का अनुवाद करके उसने छपवाया था। खास स्तोत्रों में से अनेक उसके बनाये हुए हैं। यह कहने में कोई नुकसान नहीं है कि स्वदेश-प्रेम भरी कविता या गीत बनाने का उदाहरण हमने उसी से लिया। यह उन दिनों की बात है जब कि साल में एक दफा मेला लगता और उसमें हिन्द भूमि का यश गाने में लज्जा हमको आती है।" यह उसका बनाया पद गाया जाता था।

मेरा यह चचेरा भाई भर जवानी में मरा। उस समय मैं बहुत ही छोटा था, लेकिन जिसने उसे एक बार देखा होगा, वह उसकी लम्बी, सुन्दर और असरदार चेहरा कभी नहीं भूलेगा। समाज पर उसका खास असर था। लोगों का मन अपनी ओर खींचने और उसे अपनी ओर बनाये रखने की कला उसे अच्छी तरह आ गई

थी। जब तक उसकी मूर्ति किसी समूह में होती, तब तक उससे हटना मुश्किल ही था। अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा जो अपने परिवार, गांव या शहर के केन्द्र स्थान बन जाते हैं, ऐसे लोगो में से वह भी एक था। जिन-जिन देशों में सरकारी, व्यापारिक या समाज की संस्थाएं बढी हुई रहती हैं उन देशों में जन्म मिलने पर ऐसे लोग राष्ट्र के नेता बने बिना नही रहते। बहुत से लोगों को इकट्ठा कर उनका असरदार और काम करने वाला संघ बनाने मे खास प्रतिभा की जरूरत होती है। हमारे देश मे इस तरह की प्रतिभा बेकार ही चली जाती है। आकाश से तारा तोड़कर उससे एक तुच्छ दियासलाई का काम लेने के समान ही हमारे देश मे ऐसे व्यक्तियों का करुणा भरा गलत उपयोग होता है। गजेन्द्र के छोटे भाई गुजेन्द्र प्रसिद्ध चित्रकार की मुझे उससे भी ज्यादह याद है। गजेन्द्र के समान इसने भी हमारे घर में अपना खास स्थान बना रहा था। वह अपने मन से अपने प्रेमी, दोस्त, परिवार, रिश्तेदार सभी का ध्यान रखता था। यही कारण था कि जो हमेशा उसके आस-पास बिना बुलाये ही लोगों का जमघट लगा रहता था, चाहे वह कही पर भी क्यो न हो, उन लोगो मे वह ऐसा मालूम होता था कि मानो खुद आदर ही साक्षात् उतरा है। कल्पना और बुद्धिमानी इन दोनों गुणों का वह बडा आदर करता था और इसलिए उसमें हमेशा जोश झलका करता था। त्यौहार हो या उत्सव हो, मजाकिया नाटक हो या दूसरा कुछ हो। जहां कोई नई कल्पना निकली कि उसे जगह मिली। उसकी सहायता से वह कल्पना को बढाकर सफल हुए बिना नहीं रहता था।

इस हलचल में शामिल होकर कुछ करने लायक उम्र अभी हमारी नही थी, लेकिन इससे पैदा होने वाली नयी जिन्दगी और आनन्द की लहरें हमारे तक आतीं और कुतुहल के दरवाजे को धक्का दिया करती थी। मुझे ऐसी याद है कि हमारे सबसे बड़े भाई के रचे हुए एक प्रहसन (नाटक का रूप) की तालीम चचेरे भाई के दीवानखाने में दी जाती थी। मैं अपने घर के बरामदे के कठरे के पास खड़ा रहता वहां मुझे उस दीवानखाने में जोर जोर से हंसी आती, वह और हंसी देने वाले गाने का सुर सुनाई पड़ता था। साथ में अक्षय मजूमदार की लच्छेदार बातों की झनक भी हमारे कान पर बीच-बीच में पड़ जाती थी। हम उन गानों को बराबर उस समय समझ तो न सके, लेकिन पीछे से कभी न कभी उन गानों को ढूंढ निकालने की उम्मीद हमें जरूर थी।

मेरे मन में गुजेन्द्र के लिए खास आदर पैदा करने वाली एक छोटी सी बात पैदा हो गई, वह मुझे अच्छी तरह याद है। मुझे अच्छे चालचलन के बारे में एक बार इनाम मिलने के सिवाय और कभी कोई भी ईनाम स्कूल से नही मिला था। हम तीनो में सत्य पढ़ने में अच्छा था। एक इम्तिहान में उसे अच्छे नम्बर मिले, और इस वास्ते उसे ईनाम भी मिला। घर में पहुंचते ही बगीचे में गुजेन्द्र था, उससे कहने के लिए मैं गाड़ी से कूद कर जोर से भागा और भागते-भागते ही चिल्लाकर मैंने

उससे कहा कि सत्य का इनाम मिला है। उसने हंसते हुए मुझे अपने पास खींचकर मुझे से पूछा कि क्या तुझे कोई इनाम नहीं मिला ? मैंने जवाब दिया कि मुझे नहीं सत्य को मिला है। सत्य को मिली हुई विजय से मुझे जो आनन्द हुआ, उसे देखकर उसका गला भर आया। उसने अपने दोस्त से उसी समय कहा कि इसके स्वभाव की यह कितनी अच्छी बात है। मुझे सुनकर एक ही अचरज हुआ, क्योंकि मैंने अपनी इस भावना की ओर इस निगाह से कभी नहीं देखा था। स्कूल में इनाम न मिलने पर भी घर पर जो मुझे यह इनाम मिला, उससे मुझे कुछ भी फायदा नहीं हुआ। बच्चों को देनगी देना बुरा नहीं है, लेकिन इनाम के रूप में नहीं देना चाहिए, क्योंकि बिल्कुल छोटी उम्र में अपने गुणों की जानकारी होना कोई खास फायदे की बात नहीं होती।

दुपहर का भोजन करने के बाद गुजेन्द्र जमीदारी कचहरी में जा बैठता था। हमारे बुजुर्गों की कचहरी एक तरह का क्लब ही थी। यहां हंसना, खेलना, गप्पे मारना, वगैरह सब कुछ हुआ करता था। गुजेन्द्र को एक कोच पर पढा जाता था। उस समय मौका देख मैं भी उसके पास धीमे से चला जाता था। रोजाना वह मुझे हिन्दुस्तान के इतिहास की बातें बताया करता था। क्लाइव का हिन्दुस्तान में आना, उसका यहां ब्रिटिश राज का जमाना, फिर विलायत छोड़कर खुदकशी करना आदि बातें सुनकर मुझे कितना अचरज हुआ था, इसकी मुझे अभी भी याद है। जिस दिन मैंने यह सब बातें सुनी, उस दिन मैं दिनभर इसी विचार में खोया रहा कि यह कैसे हो सकता है कि एक ओर तो नये इतिहास का जन्म लेना है, और दूसरी ओर मन के गहरे अंधेरे में दुःख का भाव दबा हुआ है। एक ओर भीतर में इस तरह की जहरी बदनामी और दूसरी ओर देश की ऊंची लहराती पताका।

मेरे खीसे में क्या रखा हुआ है, इस बारे में गुजेन्द्र को शक न होने पावे, इसलिए मैं जोश आते ही अपने हाथ की लिखी पोथी बाहर निकाल लेता था। यह कहने की जरूरत नहीं है कि गुजेन्द्र कठोर व गर्व आलोचक नहीं था। असल में पूछा जाय तो उसके मन का उपयोग तो किसी विज्ञान सा फायदे वाला होता था, लेकिन मेरी कविता को बिल्कुल ही लडकपन की होती थी। इसलिए वह मन से 'अहाहा' ही दुहराता था। एक दिन 'हिन्द माता' पर मैंने एक रचना की। उसकी एक लाइन के आखिर में रखने के लिए हाथी गाड़ी वाचक शब्द के सिवाय दूसरा उसी तरह का शब्द मुझे याद नहीं आया। वह शब्द उचित न था। तो भी 'यमक' के खातिर उस शब्द को ही ले लिया। 'यमक' अपने घोड़े को बराबर आगे रखना चाहते थे और अपने हक को जमा रहे थे। इसलिए यमक लाने के तर्क की कोई बात नहीं मानी गई और यमक का हक बराबर बना रहा।

उन दिनों मेरे सबसे बड़े भाई अपनी 'स्वप्न प्रयाण' नाम की किताब लिख

रहे थे। यह उनकी किताबों में अच्छी किताब है। इसे वे दाहिने ओर के बरामदे में गद्दी पर बैठकर और अपने सामने डेस्क रखकर लिखा करते थे। गुजेन्द्र भी इस जगह रोजाना सुबह आकर बैठता था। हमेशा आनन्द में रहने की उसकी मनोली शक्ति,'वसन्ती हवा की लहरों सी कविता रूपी लता में नये अंकुर फूटने में उपयोगी पड़ती थी। मेरे बड़े भाई का अक्सर यह हमेशा का क्रम था कि वे पहिले लिखते, फिर उसे जोर-जोर से बांचते और बांचते-बांचते अपने खयालों के अनोखेपन पर खूब जोर से हसते, जिसके कारण सारा बरामदा गूंज उठता था। उनकी लिखने की ताकत इतनी उपजाऊ थी कि पहिले तो वे बहुत ज्यादह लिख डालते फिर उसमे से छांटकर किताब की असल प्रति में लिखते थे। बसंत में जिस तरह आम के पेड़ पर ज्यादह आया हुआ बौर झड़कर जमी पर बिखर जाता है, उसी तरह उनके 'स्वप्न प्रमाण' के छोड़े हुए हिस्से के पन्ने घर भर में बिखरे हुए थे। यदि किसी ने उन्हें इकट्ठा कर रखे होते तो उसका हमारे बंगला-साहित्य के लिए गहनों की तरह एक पुष्पकांड ही बन गया होता।

दरवाजों की दरारों मे से या कोनों में से देख-देख कर हम इस काव्यमय में मिजमानी का मजा लेते थे। इस मिजमानी में इतने ज्यादह पकवान बनाये जाते थे कि वे आखिर बचे ही रहते। मेरे बड़े भाई उस समय सामर्थ्य की चोटी पर पहुंच गये थे। उनकी कलम से कवि के खयालों का जोरदार प्रवाह बहने लगता था। 'उसमें यमक और सुन्दर भाषा की लहरों पर लहरें उठती थी, 'और किनारे से टकरा कर विजय-गीत की आनन्दमयी आवाजें दशों दिशाओं को गुंजा देती थी। हमें क्या 'स्वप्न प्रयाण' समझ में आता था? 'और न समझें तो भी क्या हुआ? उसका रस लेने के लिए समझने की जरूरत भी क्या थी? सागर की गहराई में रखी हुई सम्पत्ति डुबकी मारने पर यदि हाथ भी लग जाती तो उससे हमे क्या मिलता, जबकि किनारे पर टकराने वाली लहरो के आनन्द में हम तर हो चुके थे और उसके आघात से हमारी नाडियो मे जीवन रक्त खूब बह रहा था।

उन दिनो का मैं जितना विचार करता हूं, उतना ही मुझे ज्यादह भरोसा होता है कि अब आगे 'मजलिश' नामक चीज मिलने वाली नही है। अपने समाज के बन्धुओं से हिलमिल कर व्यवहार करने का जो हमारे बुजुर्गों मे खास गुण था, उस गुण की आखिरी किरण मैंने अपने बचपन में देखी। उस समय अपने पड़ोसियो के प्रति प्यार भरी मन की भावना इतनी नजदीक थी कि 'मजलिश' एक जरूरी बात बन गई थी और जो इसकी अच्छाई को जितना ज्यादह बढ़ाता, उसको उतनी ही ज्यादह चाह होती थी। समाज को ऐसे ही लोगों की बहुत जरूरत रहती है। आजकल या तो किसी खास काम के कारण या सामाजिक धर्म के नाते लोग एक-दूसरे से मिलने को जाया करते है। इकट्ठा होकर कुछ समय बिताने के उद्देश्य से कोई किसी के पास नही जाता। या तो आजकल के लोगों को समय ही नही रहता

या पहले जैसा प्रेम ही नही रहा। उस समय यह हालत थी कि कोई आ रहा है तो कोई जा रहा है, कोई गप्पें मार रहे हैं, हंसी उड़ रही है। गप्पों और हंसी की आवाज से कमरे गजगजा रहे हैं। इकट्ठे लोगों मे अगुआ बनकर विनोदी कहानियां इस तरह से कहने का यत्न किया जा रहा है कि कही मजा किरकिरा न हो। उस समय के इन्सानों की यह ताकत आजकल नही रही है। आजकल लोग आते-जाते हैं, लेकिन आज में कमरे सूने और डरावने दिखलाई पड़ते हैं।

उस समय दीवानखाने से लेकर रसोई घर तक की सब चीजें सब लोगों के काम में आ सकने की व्यवस्था की गई थी। इसलिए ठाठ-बाट और दिखावे में कभी कोई बदलाव नहीं होता था। आजकल श्रीमती के उपकरण तो बहुत बढ़ गये हैं, लेकिन उनमें प्रेम नहीं रहा और न इन साधनो में सभी तरह के लोगों ने हिलमिल जाने की कला ही रह गई है। जिनके पास कपड़े नही है या जो मैले-कुचले हैं, उन्हें बिना मजूरी किये सिर्फ अपने हसते हुए चेहरे के बल पर श्रीमती के साधनों का उपयोग करने का हक आजकल नही रह गया है। हम इन दिनों अपनी इमारतों, सजावटो मे जितना ध्यान देने लगे हैं, उनमें भी समाज है, और ऊंचे दरजे की मेहमानवाजी है, लेकिन हमारे में कमी यह आ गई है कि हमने नजदीकी साधनो को छोड़ दिया है और पश्चिम की तरह सामाजिक बन्धन तैयार करने में लग गये है जिसके साधन हमारे पास हैं नही। नतीजा यह हुआ है कि हमारी जिन्दगी का सुख सूना हो गया। आजकल भी काम-काज के समय से या राष्ट्र व समाज की बातो के विचार के लिए हम इकट्ठे होते है, लेकिन एक दूसरे से मिलने के लिए नही। अपने देश के बांधवों से प्रेरित होकर उन्हें इकट्ठा करने के बारे में मैंने सोचना बद कर दिया है। इस सामाजिक बुराई के बजाय मुझे कोई दूसरी बात बुरी नही मालूम होती। जिनके ठेठ मन से निकलने वाला हास्य हमारे घर की चिन्ता के बोझ को हलका करता था, उस याद के साथ यही बात ध्यान में आती है कि वे इन्सान किसी अलग दुनियां से आये होगे।

मेरे साहित्यिक साथी

मुझे बचपन मे एक दोस्त मिले थे, जिनकी मुझे अपनी साहित्य की उन्नति के काम मे बेश कीमती मदद मिली। इनका नाम था "अक्षय चौधरी"। यह मेरे चौथे भाई के हम उम्र साथी थे। दोनो एक ही क्लास मे पढ़ते थे। ये इंगलिश भाषा और साहित्य में एम ए. थे। इन्होंने इगलिश साहित्य मे जितने माहिर थे, उतना ही उस पर इनका लगाव भी था और दूसरी ओर देखा जाय तो बगला के पुराने कवि और वैष्णव कवियो पर भी उनका उतना ही लगाव था। उन्हे ऐसे सैकड़ों बङ्गला पद याद थे, जिनके बनाने वालो के नाम का पता नही है। न वे राग और तालों को देखते, न नतीजे की ओर, और न ही इसकी परवाह ही करते कि सुनने वाला क्या कह रहा है। सुनने वालों के मना करने पर भी वे आवाज चढ़ा-चढ़ा कर गाया करते थे। अपने गाने की आप ही ताल लगाने में उन्हे कोई भी बात उल्टी नही लगती थी। सुनने वालों के मन में जोश पैदा करने के लिए वे पास में रखी टेबिल या किताब को ही तबला बना लेते थे।

तुच्छ या अच्छी किसी श्रेणी की चीज से सुख पाने का संयम रखने की अनोखी सामर्थ्य वाले लोग होते है, उनमे से अक्षय बाबू भी एक थे। वे किसी बात की भलाई को बखानने मे जितने खुले दिल वाले थे उतने ही उसका उपयोग कर लेने में भी लगे रहते थे। बहुत से पद और प्रेम की कविताए तुरन्त रचने की अनोखी शक्ति उन्हे मिली हुई थी। लेकिन कवि होने का उन्हे बिलकुल ही गर्व न था। पेंसिल से लिखे हुए कागजो के टुकडो के ढेर इधर-उधर पड़े रहते थे जिनकी ओर वे फिरकर भी देखते नही थे। उनकी शक्ति जितनी विशाल थी, उतने ही वे उस ओर लापरवाह भी थे। उनकी कविताओं मे से जब एक कविता 'वंग दर्शन' में छपी तो पढ़ने वालों को वे बहुत अच्छे लगे। मैंने ऐसे बहुत से लोगों को पद गाते हुए देखा है, जिन्हे पद बनाने वाले के बारे मे बिल्कुल ही जानकारी नही थी।

पाडित्य की बजाय साहित्य से ज्यादह सुख पाने का गुण बहुत थोड़े इन्सानों में होता है। अक्षय बाबू के जोश के कारण कविता का आनन्द लेने और साहित्य का मर्म जानने की शक्ति मुझे मिली। वे जिस तरह साहित्य की आलोचना के बारे मे खुले हृदय के थे, उसी तरह व्यवहार मे भी उदार थे। अनजान आदमियो मे उनकी दशा पानी में से निकाली मछली की तरह थी और जानकार आदमी फिर चाहे ज्ञान

और उम्र का कितना ही फर्क क्यों न हो, उन्हें बराबर के से लगते थे। हम बच्चों मे वे बच्चे बन जाते थे। ज्योंही शाम के वक्त वे हमारी बुजुर्ग मण्डली में से निकलते त्योंही उनका कोट पकड़कर मैं अपने पढने की जगह पर ले आता। वे वहां टेबिल पर बैठ जाते और उत्साहपूर्वक हमारे साथ बर्ताव कर हमारे बाल-समाज के प्राण बन जाते। ऐसे मौकों पर कई दफा मैंने उन्हें बड़े आनन्द से इंगलिश कविता बोलते हुए देखा है। कभी-कभी हम उनसे वाद-विवाद भी करने लगते और कभी-कभी लिखे हुए लेखों को पढ़कर सुनाते। इसके बदले मे बिना चूके वे मेरी बहुत बड़ाई करते और इनाम भी देते।

मुझे साहित्य और विचार के बारे में सही रास्ते से लगाने वाले इन्सानों में से मेरा चौथा भाई ज्योतिरिन्द्र खास था। वह खुद भी धुन का पक्का आदमी था और दूसरों में भी धुन पैदा करना चाहता था। बुद्धि और भाव के बारे में चर्चा करके अपने साथ खास परिचय करने के काम मे वह उम्र को बाधा नही मानता था। उसने आजादी की जो यह उदार देनगी दी, वह दूसरा नही दे सकता था। इस बारे में बहुतों ने उसे दोष भी दिया। इसके साथ दोस्ती करने के कारण पीछे रखने के लिए विवश करने वाला डरपोकपन झाड़ फेंकना मुझ से न हुआ। बहुत गरमी के बाद जिस तरह बरसात जरूरी होती है उसी तरह बचपन में जकड़ी हुई आत्मा को आजादी जरूरी होती है। इस तरह से यदि बेड़िया नही टूटी होती तो मैं हमेशा के लिए अगहीन हो गया होता। स्वतन्त्रता देना इन्कार करते समय हमेशा उसके गलत उपयोग की कल्पना का कारण बतलाने में समर्थ लोग आगे पीछे नही देखते। लेकिन इस गलत उपयोग के अभाव में स्वतंत्रता की सही स्वतन्त्रता कभी नही मिली होती। कोई चीज जब काबिल तरीके से काम मे लाना सिखलाता ही है तो उसका एक ही रास्ता है, वह है उसका गलत उपयोग करना। कम से कम मेरे बारे में तो यही कहा जा सकता है कि मुझे मिली हुई आजादी का जो गलत उपयोग हुआ, उसी ने मुझे पार होने के रास्ते से लगाया। मेरे कान पकडकर या मेरे मन पर दवाव डालकर जो काम करने के लिए लोगों ने मुझे विवश किया, उन कामों को मैं कभी ठीक तौर पर नही कर सका। जब-जब मुझे पराये हाथ रखा, तब-तब सिवाय दुःख के मेरे अनुभव में कुछ नही आया।

आत्म-ज्ञान पाने में ज्योतिरिन्द्र मुझे खुले मन से घूमने देता था और इसी समय से अक्सर फूल पैदा करने की तैयारी मेरे को हो गई थी। इस आत्मज्ञान पाने की राह का जो मुझे अनुभव मिला, उसने मुझे यही सिखाया कि अच्छाई के लिए किये गये उपायों की बजाय सामने आई बुराई से भी डरने की जरूरत नही है। राजनैतिक या नैतिक जुर्मों को सजा देने वाली पुलिस का डर, फायदेवंद होते हुए भी, मुझे डर ही मालुम होता है। आत्मज्ञान पाते समय अपने आप पर भरोसा न किया जाय तो गुलामी मिलती है, वह एक तरह की दुष्टता है। मनुष्य इस गुलामी पर प्रायः बलि हो जाया करते है।

एक बार मेरा भाई 'नवीन' स्वर-लिपि तैयार करने में कितने ही दिनों तक लगा रहा। उसके पियानो पर बैठते ही उसकी चलने वाली उंगलियों के द्वारा मीठे स्वर की वर्षा होने लगती। उसकी एक ओर अक्षय बाबू और दूसरी ओर मैं बैठता था। पियानो मे से स्वरों के निकलते ही हम लोग उसके अनुकूल शब्द तलाशने में लग जाते, जिससे कि सुरों के ख्याल में रहने के लिए सहायता मिले। इस तरह पद्य रचना का शिष्य बनना मैंने मजूर किया।

जिस समय हम जरा बड़े होने लगे, उस समय हमारे परिवार मे संगीतशास्त्र का विकास तेजी से होने लगा था। इस कारण बिना मेहनत के ही मेरे सभी अंगों मे उसके समा जाने का मुझे लाभ हुआ लेकिन साथ में उससे एक नुकसान भी हुआ, वह यह कि मुझे संगीतशास्त्र का क्रमशः मिलने वाला सही ज्ञान न मिल सका।

हिमालय मे लौटने पर धीरे-धीरे मुझे ज्यादह से ज्यादह आजादी मिलती गई। नौकरों का राज दूर हो गया और मैंने कई तरकीबों के द्वारा स्कूली-जिन्दगी की साकल तोड़ने की व्यवस्था कर डाली। घर पर भी अब शिक्षकों को भी राज करने का मैंने ज्यादह मौका नही दिया। 'कुमार सम्भव' पढ़ाने के बाद ज्ञान बाबू ने ज्यों-त्यों करके एक दो किताबें और पढ़ाईं। फिर वे भी वकालात पढने के लिए चल दिये। उनके बाद ब्रज बाबू आए। इन्होंने पहिले ही दिन मुझे 'विकार आफ वेक फिल्ड' किताब का अनुवाद करने के काम मे लगाया। जब उन्होंने देखा कि मैं उस किताब से घबड़ाता नही हूं तब उन्हें ज्यादह जोश आया और वे मेरी पढ़ाई की अच्छी व्यवस्था करने लगे। यह देखकर मैं उन्हें भी टालने लगा।

मैं ऊपर कह ही आया हूं कि मेरे बुजुर्गों ने मेरी आशा छोड दी थी। मेरे भविष्य के बारे में उन्हें और मुझे कुछ खास उम्मीद नहीं थी। अपने पास की कोरी किताब जिस किसी भी तरह लिखने के लिए मैं आजाद हू, ऐसा मैं समझने लगा। लेकिन वह किताब मेरी कल्पना की बजाय बहुत अच्छे लेखो से नही भरी गई। मेरे मन में गरम-गरम भाव के सिवाय और था भी क्या? इस भाप के द्वारा बने हुए बुदबुदे मेरी आलस से भरी कल्पना के आस पास वे मतलब चक्कर मारा करते थे। उनके द्वारा कोई आकार नही बन पाता था। बुदबुदे उठते और फूट कर झाग बन जाते थे। मेरे कवित्व मे यदि कुछ होता भी तो वह मेरा न होकर दूसरे कवियों की रचना से उधार लिया हुआ हिस्सा ही होता था। उसमे यदि मेरा कुछ होता भी तो सिर्फ मेरे मन की छटपटाहट या मन को बैचेन करने वाला दबाव। मन की दशा का विकास होने के पहले ही जहां हलचल शुरू हो जाती है, वहां पूरी तरह अंधेरा ही रहता है।

मेरी भौजाई (चौथे भाई की पत्नी) को साहित्य से बडा लगाव था। वह केवल समय बिताने को नही पढा करती थी, लेकिन जो बंगला किताब पढती उसे मन से पचाती भी थी। साहित्य सेवा में उसका मेरा साथ था। 'स्वप्न प्रयाण' किताब

के बारे में उसका ऊंचा विचार था। मेरा भी उस किताब पर बहुत प्रेम था। उस किताब को मैं शुरू से ही पढ़ता रहता था और मेरे मन के तन्तुओं ने उस किताब की मादक फूल-कलियो को गूंथ लिया था, इसलिए उस पर मेरा प्रेम और भी अधिक हो गया था। उस किताब के समान लिखना मेरे बूते से बाहर था, इसलिए सौभाग्य से ऐसा प्रयत्न करने का मुझे विचार तक पैदा नही हुआ।

'स्वप्न प्रयाण' की बराबरी प्रतिशय उक्ति से भरे सुन्दर महल से ही की जा सकती है, जिसमें आंगन, दालान, कमरे छज्जे आदि हों और जो अनोखी मूर्तियों, तसवीरों आदि से खूब भरा हुआ हो। जिसके चारों ओर बगीचे हो, जिसमे जगह-जगह पर लताकुंज, फव्वारे, प्रेम कहानी के लिए गुफायें आदि हों। यह ग्रंथ सिर्फ भावो और कल्पनाओ से ही भरा हुआ नही है अपितु इसकी भाषा सुन्दर और अनेक शब्दों के साथ अनोखापन लिए हुए है। इस तरह के चमत्कार भरे सुन्दर काव्य को बनाने वाली शक्ति कोई साधारण बात नही है। शायद इसलिए इसकी नकल करने की कल्पना मुझे पैदा नही हुई।

इन्ही दिनों श्री बिहारीलाल चक्रवर्ती की 'शारद-मंगल' नामक पद्य माला 'आर्य-दर्शन' में छपने लगी थी। इसके प्रेम भरे गीतों ने मेरी भोजाई का मन बहुत ही लुभा लिया था। बहुत से गीत तो उसने जुबानी याद कर लिए थे। वह इन गीतो के रचयिता कवि को निमन्त्रण देती और इनके बैठने के लिए अपने हाथ से बेलबूटे काढकर एक गादी तैयार की थी। इसीलिए मुझे इनसे जानकारी का मौका मिल गया। मेरे पर भी उनका प्रेम जम गया। मैं किसी भी समय उनके घर चला जाता था। शरीर की तरह उनका मन भी उजला था। कविता रूपी कामना शरीर की तरह कवि की प्रतिभा का तेज उनके चारो ओर फैला हुआ रहता था-और यही उनकी असली प्रतिभा की मूर्ति है, ऐसा लगता था। वे कविता के आनन्द से हमेशा भरे रहते थे। जब-जब मैं उनके पास जाता मुझे कविता के आनन्द का स्वाद मिलता था। दुपहर के समय कड़क गर्मी मे तीसरी मंजिल पर एक छोटी सी कोठरी मे चूना गच्ची की मुलायम जमीन पर पढ़कर कविता लिखते मैंने कई बार उन्हे देखा है।

यद्यपि मैं उस समय बच्चा ही था, तो भी वे मेरा ऐसे सहज भाव से आदर करते थे कि मुझे उनके पास जाने में कभी संकोच नही होता था। ईश्वर की प्रेरणा में डूब कर और अपने पास कौन है और क्या हो रहा है, इसकी ओर न देखकर एक ध्यानी की तरह वे अपनी कविताएं या पद सुनाते थे। यद्यपि उन्हें मीठे गायन की कोई देन कुदरत ने नही दी थी, तो भी वे बिल्कुल बेसुरा भी नही गाते थे और उनके गायन से कोई भी गाने वाला यह ख्याल कर सकता था कि उन्हे कौनसा आलाप निकालना है। जब वे आखें मीचकर आवाज ऊंची उठाते थे तब उनकी गति की कमजोरी

छिप जाती थी। मुझे अभी भी यह भान हो जाता है कि उन्होंने मुझे जैसे गाने सुनाये थे वैसे ही मैं अब भी सुन रहा हूं। कभी-कभी मैं भी उनके गाने जमाकर उन्हें गाकर सुनाया करता था।

वे वाल्मीकि और कालीदास के भक्त थे। मुझे याद है कि एक बार उन्होंने कालीदास के काव्यों में से हिमालय का वर्णन बड़े जोर से पढ़ा और इसके बाद बोले कि—"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः"—इस आधे श्लोक में कालिदास ने जो 'आ' इस दीर्घ स्वर को खुलकर प्रयोग किया है, वह यों ही नहीं किया, लेकिन 'देवतात्मा' से 'नगाधिराज' तक कवि ने जानबूझकर यह दीर्घ स्वर हिमालय का बड़ापन बताने के लिए ही प्रयोग किया है।

इस समय मेरी खास इच्छा सिर्फ बिहारी बाबू की तरह कवि होने की थी और मुझे यह स्थिति मिल भी जाती कि मैं अपने आप समझने लगता कि मैं बिहारी बाबू की तरह कविता कर सकता हूं। लेकिन मेरी भौजाई जो उनकी भक्त थी, इसमें आड़े आती थी। वह बार-बार मुझे कहती कि 'काबिलियत' न होते हुए यश पाने की इच्छा रखने वाला कवि मजाक बन जाता है। वह शायद यह बात अच्छी तरह जानती थी कि यदि कभी इच्छा के साथ झूठे गर्व ने सिर उठाया तो फिर उसको दाबना मुश्किल हो जाएगा।

इसलिए वह मेरे गायन या कविता की अचानक बड़ाई नहीं किया करती थी, इतना ही नहीं, वह दूसरे के गायन की बड़ाई कर मेरी कमी दिखाने का मौका कभी यों ही नहीं जाने देती थी, उसका तो वह इस्तेमाल कर ही लेती थी। इसका नतीजा यह हुआ कि मुझे अपनी आवाज में कमी है, इसका पूरा भरोसा हो गया और कवित बनाने में संदेह होने लगा, लेकिन यही एक प्रयत्न था जिसके कारण मैं बड़प्पन पा सकता था। अतः दूसरों के फैसले पर मैं सब आशा छोड़ देने के लिए भी तैयार ना था। इसके सिवाय मेरे मन की प्रेरणा इतनी जोर की थी कि कविता बनाने की हिम्मत से लौटाना मुश्किल था।

□

लेख-प्रसिद्धि

इस समय तक मेरे लेख मंडली के बाहर नही गये थे। इन्हीं दिनों 'ज्ञानांकुर' नाम का मासिक पत्र निकला और उसके नाम के अनुकूल गर्भ में छिपा एक लेखक भी उसे मिला। यह पत्र बिना भेद व उपभेद किए मेरी सभी कविताएं मशहूर करने लगा। इस समय तक मेरे मन के एक कोने में ऐसा डर छिपा पड़ा था कि जिस वक्त मेरा न्याय करने का मौका आयगा, उस दिन कोई साहित्यिक पुलिस-अफसर निजी बातों की हक की ओर खयाल न कर भूल के अंधेरे में पड़े हुए साहित्य के जनान खाने में जांच पड़ताल शुरू करेगा और उसमें से मेरी सब कविताएं ढूंढ कर बेरहम जनता के सामने रख देगा। मेरा पहिला गद्य-लेख भी 'ज्ञानाकुर' में ही छपा। वह आलोचना का था और उसमें थोडी ऐतिहासिक चर्चा भी की गई थी।

एक 'भुवन-मोहिनी' नामक काव्य की किताब छपी थी। इसकी अक्षय बाबू ने 'साधारणी' में और 'भूदेव बाबू' ने 'एज्यूकेशन गजट' में खूब बड़ाई की थी, तथा इसके रचने वाले नये कवि का स्वागत किया था। मेरा एक दोस्त था। उम्र मे वह मुझसे बड़ा भी था। वह मेरे पास बारम्बार आता और 'भुवन मोहिनी' के द्वारा उसके पास भेजे हुए पत्रो को वह मुझे दिखलाता था। यह भी 'भुवन-मोहिनी' नाम की किताब पर मोहित होने वालो मे से एक था और वह इस किताब की प्रसिद्धि पाने वाली के पास किताबें व कीमती कपड़ो की भेट भेजता रहता था।

इस किताब की कुछ कविताओं की भाषा इतनी व्यर्थ थी कि मुझे यह विचार ही बर्दाश्त नही होता था कि इस तरह लिखने वाली कोई औरत हो सकती है और फिर मैंने अपने मिलने वाले के पास आये हुए जो पत्र देखे, उन पर से मेरा उसके औरत होने के बारे मे भरोसा और भी कम हो गया, लेकिन मेरे स्नेही के भरोसे में मेरे अविश्वास मे कुछ धक्का नही लगा और उसने अपने पूज्य देवता को पूजा उसी तरह चालू रखी।

अब मैंने 'भुवन-मोहिनी' की देन पर आलोचना लिखना शुरू किया। मैंने भी अपनी कलम को आजाद छोड दिया। इस लेख के रसात्मक काव्य के खास लक्षणों को कसौटी पर उतारा। इन लेखों मे मेरे अनुकूल यही बात थी कि ये बिना झिझक के छपे थे और वे इस तरह लिखे गये थे कि उन पर से लिखने वाले के ज्ञान का पता नहीं लग सकता था। एक दिन मेरा वह स्नेही गुस्से से भरा हुआ मेरे पास

भानुसिंह

मैं एक बार ऊपर कह चुका हू कि मैं बाबू अक्षय सरकार और सरोदमित्र द्वारा छपाई पुरानी काव्यमाला का बारीकी से देखने वाला विद्यार्थी था। उस पर से मुझे मालूम पड़ा कि मैथिली की भाषा बहुत कुछ मिली-जुली है, इसलिए उसका समझना एक मुश्किल काम है। उसका अर्थ समझने के लिए मैं खूब कस कर मेहनत करता था। बिल के भीतर छिपे हुए शिकार की ओर या जमी के धूलभरी पड़त के नीचे छिपे हुए रहस्य की ओर जिस जोश व जानने की इच्छा से देखता था, उसी इच्छा से इस काव्य रत्नाकर के गम्भीर अंधेरे में मैं ज्यों-ज्यो भीतर जाता, त्यों-त्यो कुछ अजान काव्यरत्नो को उजाले मे लाने की मेरी आशा और उसके कारण से पैदा हुआ उत्साह भी बढता जाता था।

इस काव्य के अभ्यास में लगे हुए रहने की दशा मे ही एक खयाल मेरे सिर मे घूमने लगा कि अपने लेख भी इसी तरह के गहरे आवरणों में लपेटे हुए रहना चाहिए। अंग्रेजी बाल कवि 'चाटरटन' का हाल अक्षय चौधरी से मैंने सुन रखा था। उसकी कविता के बारे में मुझे कोई खयाल न था और शायद अक्षय बाबू को भी न होगा। यह भी संभव है कि यदि उसकी कविता का स्वरूप हम समझ गये होते तो उसकी अपनी कहानी मे कुछ मजा भी न रहता। हाँ, इतनी बात जरूर है कि मन के विकारो मे हलचल पैदा कर देने वाले उसके खास गुणों से मेरे खयालात जागे। मान्य ग्रंथों का बेमालूम रीति से अनुकरण कर उक्त 'चाटरटन' ने अनेक लोगों को चकित किया और आखिर मे उस अभागे जवान ने अपने आप आत्म-हत्या करली। इसके चरित्र का आत्म-घाती हिस्सा छोड़कर उसकी मर्दानगी भरी हिम्मत को भी पीछे ढकेलने के लिए मैं कमर कसकर तैयार हो गया।

एक दिन दुपहर के समय आसमान बादलो से ढका हुआ था। दुपहर के वक्त आराम के समय प्रकृति देवी ने गर्मी से इस तरह हमारा बचाव किया, अत. मेरा मन आभार से भर गया और मुझे बड़ा आनन्द मालूम होने लगा। मैं अपने भीतर के कमरे मे बिस्तरे पर उलटा पड गया और पट्टी पर मैंने मैथिली की एक कविता का अनुवाद लिख डाला। इस अनुवाद से मैं इतना खुश हुआ कि उसके बाद मुझे जो पहले-पहल मिला, उसे ही मैंने वह कविता तुरंत सुना दी। कविता में एक भी शब्द ऐसा न था, जिसे वह न समझ सके, इसीलिए उसने भी सिर हिलाकर 'बहुत अच्छी' कह दिया।

ऊपर मैं अपने जिस दोस्त के बारे में कह आया हूं, एक दिन मैंने उससे कहा कि 'आदि ब्रह्म-समाज' की किताबें ढूंढते-ढूंढते मुझे फटे-पुराने कागजों पर लिखी एक किताब मिली है। उस पर से भानुसिंह नामक एक पुराने वैष्णव कवि की कुछ कविता की मैंने नकल कर डाली है। ऐसा कहकर मैथिली कवि की कविता के अनुसार मैंने जो कविता की थी, वह उसे सुनाई। वह आनन्द से बेहोश होकर कहने लगा कि विद्यापति या चंडीदास भी ऐसी कविता नहीं कर सकते थे। इन्हें छपाने के लिए अक्षय बाबू को देने वह मुझसे मांगने लगा। लेकिन जब मैंने अपनी किताब बतलाकर यह कहा कि असल में विद्यापति या चंडीदास नहीं रच सकते थे, यह मेरी रचना है, तब उसका मुंह उतर गया और फिर कहने लगा कि "हां, यह कविता इतनी बुरी नहीं है।"

जिन दिनों भानुसिंह के नाम से कविताएं छप रही थीं उन्हीं दिनों डॉ० निशिकान्त चटर्जी जर्मनी गये हुए थे। वहां उन्होंने यूरोपियन रसात्मक काव्यों के बारे में एक निबन्ध लिखा। इस निबन्ध में किसी भी नये कवि की दृष्टि न पहुंच सके, इतने आदर का स्थान पुराना कवि कह कर भानुसिंह को स्थान दिया गया था और अचरज यह है कि इसी निबन्ध पर निशिकांत बाबू को पी.-एच. डी की पदवी मिली।

कवि भानुसिंह कोई ही क्यों न हो, लेकिन मेरी बुद्धि के बढ़ने पर यदि वह कविता मेरे हाथों मे आई होती तो मुझे भरोसा है कि उसके रचने वाले के बारे मे कभी नहीं फंसता। भाषा के बारे में, मेरी जांच-पड़ताल में वह ठीक उतरी होती, क्योंकि वह पुराने कवियों की भाषा उनकी मातृभाषा न होकर अलग-अलग कवियो की कलम से बदलने वाली असहज भाषा थी। हां, उनकी कविता के भावों मे बनावटीपन न था और यदि काव्यानन्द पर से भानुसिंह की कविता की परीक्षा की होती तो उसकी कमजोरी तुरन्त ही निगाह में आये बिना नहीं रहती, क्योंकि हमारे पुराने साजों की मोहक आवाज न निकल कर नये दूसरे पुराने कवियों की भाषा के समान ही, नली की तुच्छ ध्वनि निकलती थी।

☐

अपने देश पर अभिमान

ऊपरा-ऊपरी देखने से हमारे परिवार में बहुत से विदेशी रीति-रिवाज चलन में दिखलाई पड़ेंगे, लेकिन भीतरी दृष्टि से देखा जाय, तो उसमे देश के अभिमान की ज्योति, धीमे रूप में भी दिखलाई नही पडेगी। अपने देश के प्रति मेरे पिता मे जो आदर था, वह उनकी जिन्दगी मे अनेक क्रातियाँ होने पर भी कम नही हुआ और वही आदर उनके बेटे-पौतों में भी अपने देश के अभिमान के रूप में उतरा है। मैं जिस समय के बारे में लिख रहा हूं, उस समय अपने देश प्रेम को कोई खास महत्व प्राप्त न था। उस समय देश के पढे-लिखे लोगो ने अपनी जन्म भूमि की भाषा और विचारो का बहिष्कार कर रखा था लेकिन ऐसी दशा में भी मेरे बड़े भाई ने बगला साहित्य के बढ़ावे के लिए लगातार प्रयत्न किया। मुझे याद है कि एक बार हमारे किसी नये रिश्तेदार के यहाँ से आये हुए अंग्रेजी पत्र को पिताजी ने ज्यों-का-त्यो वापिस कर दिया था।

हमारे घराने की सहायता से लगाये जाने वाला "हिन्दू मेला" नामक एक सालाना यात्रा भरा करती थी। इसकी व्यवस्था करने वाले बाबू नव गोपाल मित्र थे। शायद बड़े गर्व से भारतवर्ष को अपनी मातृ भूमि प्रकट करने का पहिला प्रयत्न होगा। इन्ही दिनो मेरे दूसरे बड़े भाई ने 'भारतेजय' नामक लोकप्रिय राष्ट्र-गीत लिखा। इस मेले की खासियत जन्मभूमि की निर्मल कीर्ति से भरे हुए पद गाने, स्वदेश प्रेम से लबालब भरी हुई कविता पढ़ने, देशी उद्योग-धधे और हुनर की प्रदर्शनी करने तथा राष्ट्र स्तर की बुद्धिमत्ता और कौशल को बढ़ावा देना आदि थे।

लार्ड कर्जन के दिल्ली दरबार के मौके पर मैंने एक गद्य लेख लिखा। यही लेख लार्ड लिटन के समय पद्य मे लिखा था। उस समय की अंग्रेजी सरकार रशिया से भले ही डरती हो, लेकिन वह एक चौदह साल के बच्चे से थोड़े ही डरती थी। इसलिए उस कविता मे मैंने अपनी उम्र के अनुसार कितने ही तीखे विचार क्यों न प्रकट किये हो, मगर उसका असर 'कमांडर इन चीफ' से लेकर पुलिस कमिश्नर तक किसी भी अधिकारी पर दिखलाई नही पड़ा और न लंदन टाइम्स ने ही अपने अधिकारियो को इस उदासीनता पर कोई आसू भरा पत्र व्यवहार ही छापा। मैने हिन्दू मेले में अपनी यह कविता एक पेड़ के नीचे पढ़ी। उस समय सुनने वालों मे नवीन सेन नामक एक कवि भी थे। उन्होने ही मेरे बड़े होने की घटना की मुझे याद दिलाई।

मेरा चौथा भाई ज्योतिरिन्द्र एक सरकारी संस्था को जन्म देने वाला था। इस संस्था के प्रमुख राजनारायण बोस थे। कलकत्त की एक आड़ी-तिरछी गली के टूटे-फूटे मकान में इस सभा की बैठकें हुआ करती थी। इसके कामकाज के बारे में लोग बिलकुल अनजान थे। इसके विचार छिपकर हुआ करते थे। इसी कारण हम सभा के बारे में गहनता और डर भाग गया था। असल में देखा जाय तो हमारे आचार-विचार में सरकार और जनता के डर का कारण कुछ भी नहीं था। दुपहर का समय हम कहाँ बिताते हैं, इसकी कल्पना हमारे घर के दूसरे लोगों को कुछ भी न थी। बैठक के आगे वाले दरवाजे पर हमेशा ताला लगा रहता था। बैठक के कमरे में आने के निशान के रूप में एक वेद मंत्र नियत था और हम सब आपस में धीरे-धीरे बतलाते थे। हमको डराने के लिए इतनी ही बातें काफी थीं। दूसरी बातों की जरूरत ही न थी। यद्यपि मैं बच्चा था तो भी इस सभा का सदस्य हो गया था। हमारे आस-पास एक तरह की मतवाली हवा का ऐसा कुछ माहौल फैल गया था कि हम उत्साह रूपी पंखों पर बैठे हुए उड़ते दिखाई पड़ते थे। हमें सकोच और अपनी काबिलियत पर भरोसा न होना या डर का नाम भी मानो मालूम न था। केवल जोश की गर्मी में तपते रहना ही हमारा एक मात्र काम था।

बहादुरी में भले ही कभी-कभी कुछ कमियां पैदा हो जाती हों, लेकिन बहादुरी के बारे में शांत आदर इन्सान के भीतर छिपा रहता है, इसमें शक नहीं है। सब देशों के साहित्य में यह दिखलाई पड़ेगा कि इस आदर को बनाये रखने के लिए निरन्तर यत्न किये जा रहे हैं और विशेष समाज किसी भी दशा में इन उत्साह भरे प्रहारों की लगातार मार को किसी भी तरह टाल नहीं सकता। हमको भी अपनी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ा कर, इकट्ठे बैठकर बड़ी-बड़ी बातें बनाकर और खूब तेज पूर्व गाने गाकर इन मारों का जवाब देना पड़ता और इस तरह संतोष करना पड़ता था।

मानव-जाति के शरीर में भरी हुई और अतिप्रिय ताकत को बाहर न आने देकर उसके निकलने के सभी दरवाजों को बंद करने से तुच्छ कोटि के धंधों के अनुकूल बनावटी स्थिति पैदा हो जाती है, इसमें शक नहीं है। साम्राज्य की फैली हुई राज-व्यवस्था में सिर्फ क्लर्की का रास्ता खुला रखने से ही काम न चलेगा। यदि साहस भरे जिम्मेदारी के काम शिर पर लेने का मौका नहीं मिले तो इन्सान की आत्मा बन्धन से छुटकारा पाने हेतु छटपटाने लगती है और इसके लिए यह कंकरीले, पथरीले एवं विचार शून्य उपायों से सहारे की मंशा करने लगता है। मुझे भरोसा है कि सरकार ने यदि उस समय शक के साथ कोई डरावनी राह अपनाई होती तो इस मंडल के जवान सदस्य अपने काम की समाप्ति जो सुख से करना चाहते थे वह दुःखमय हुआ होता। इस मंडल के खेलों का अब अन्त हो गया है, लेकिन उससे फोर्ट विलियम की

एक भी ईंट हिलने नहीं पाई है। इस मंडल के कामों की याद आने पर आज भी हमें हंसी आये बिना नही रहती।

मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र ने भारत के लिए 'राष्ट्रीय पोशाक' की खोज की थी और उसके नमूने उक्त मंडल के पास भेजे थे। उसका कहना था कि धोती ढीली-ढाली है और पायजामा विदेशी। उसमे इन दोनों को मिलाकर एक तीसरा ही ढंग निकाला जिससे धोती की तो बेइज्जती ही हुई पर पायजामे का कुछ भी सुधार न हो सका। उसने पायजामे के आगे पीछे भी धोती का बनावटी पटली लगाकर पायजामे को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। उधर पगड़ी और टोपी का मेल करके उसने एक डरावने शिर ढकने के लिए रचना की। हमारे मंडल के उत्साही सभासदों ने भी उसकी सराहना करने में जरा भी आगा-पीछा नही किया। मेरा भाई बिना किसी झिझक के दिन-दहाड़े दोस्त, परिवार, नौकर-चाकर सबके सामने उनके आगे बिचकाते रहने पर भी यह पोशाक पहिनने लगा। साधारण ढंग के इन्सान ऐसा धीरज नही दिखा सकते। अपने देश के लिए प्राण देने वाले बहुत से भारतीय शायद निकलेंगे, पर मेरा भरोसा है कि अपने देश के भले के लिए एक नये तरह की राष्ट्रीय पोशाक पहिन कर आम रास्ते पर निकलने की हिम्मत बहुत थोड़े लोग कर सकेंगे।

मेरा भाई हर इतवार को अपनी मडली के साथ शिकार को जाया करता था। इस मंडली मे कुछ बिना बुलाये लोग भी शामिल हो जाते थे, जिनमे से बहुतों को हम पहिचानते भी न थे। हमारी इस मंडली में एक सुनार, एक लुहार और दूसरे समाज के लोग रहते थे। इस शिकार के दौरे में खून-खराबा कभी नही होता था। कम से कम मैंने तो खून-खराबा कभी नहीं देखा। इसी मंडली के कार्यक्रम मे अनोखापन और मजा बहुत रहता था। किसी को बिना मारे या बिना घायल किए शिकार कैसा ? लेकिन हमारा शिकार तो ऐसा ही होता था। मारने या घायल करने का महत्त्व हमारी इस मंडली में नही माना जाता था। बिल्कुल सुबह शिकार पर जाने के कारण मेरी भौजाई हमारे साथ पूड़ियाँ व खाने की दूसरी चीजें खूब बाध दिया करती थी। शिकार में मिलने वाली हार-जीत से इन चीजों का कोई रिश्ता नही था। अतः हमें भूखे पेट कभी नहीं आना पड़ता था।

माणिक टोला के आस-पास बगीचो या बागों की कमी नहीं है। शिकार खतम होने पर किसी एक बगीचे मे चले जाने और जात-पांत का भेद किए बिना किसी एक तालाब के घाट पर बैठकर साथ वाले पदार्थों पर हाथ साफ करते थे। इनमे से हम रत्ती भर भी नही छोड़ते थे। हाँ, इस सामान को रखने के लिए जो बरतन लाते, वे जरूर बच रहते थे।

इस खून-खराबी रहित शिकारी मडली में खास उत्साही और रसिक वृज बाबू थे। वे 'मेट्रो पालिटिन इन्स्टिट्यूट' के व्यवस्थापक थे और कुछ दिनो तक

हमारे ट्यूटर भी रहे थे। एक दिन बिना मालिक की परवानगी के एक बाग में हम लोग चले गये। अपनी इस गलती को छिपाने के लिए इस बाग के माली से बातचीत शुरू करने का एक मजेदार खयाल वृज बाबू को आया। वे उससे पूछने लगे-क्यों रे! क्या काका अभी यहाँ आए थे। यह सुनते ही माली ने तुरत झुककर सलाम किया और कहा—'सरकार! इन दिनो मालिक यहाँ नही आए। वृज बाबू बोले—"अच्छा ठीक है, अरे जरा झाड़ पर से हरे नारियल तो तोड़!"

उस दिन पूरियों पर हाथ साफ करने के बाद हमे नारियल का सुन्दर मजेदार पानी पीने को मिला।

हमारी इस मंडली मे एक छोटा सा जमींदार भी था। नदी किनारे इसका भी एक बगीचा था। एक दिन जात-पांत भुलाकर उस जगह हमने खाना खाया। दुपहर के बाद घने बादल उमड़ आये। हम भी बादलों की गड़गड़ाहट के साथ जोर-जोर से गाने लगे। यह तो मैं नही कह सकता कि राजनायण बाबू के गले से एक साथ ही सात सुर निकलते थे या नही, पर यह कहा जा सकता है कि जिस तरह संस्कृत भाषा का मूल टीका टिप्पणियो के जाल मे छिप जाता है उसी तरह उनकी आवाज निकलते ही शरीर के अंग मोड़ने मे उनका गाना भी गायब हो जाता था। ताल को प्रकट करने के लिए उनकी गर्दन इधर से उधर हिलती थी। बरसात ने उनकी दाढ़ी की हालत खराब कर डाली थी। जब देर रात हो गई, तब भाड़े की गाड़ियों से हम अपने घर आये। उस समय बादल बिखर गये थे। तारे चमकने लगे थे। अंधेरा मिट रहा था और माहौल में सन्नाटा था। गाँव के रास्तों पर पशु-पक्षी भी नही दिखलाई पड़ते थे। हाँ दोनो ओर की घुप्र झाड़ी मे बारूद की चिनगारी से जुगनू चमक रहे थे।

आग पेटी तैयार करना और दूसरे छोटे-छोटे धंधों को बढ़ावा देना भी हमारे मंडल का काम था। इस काम के लिए मडल के हरेक सदस्य को अपनी आमदनी का दसवां हिस्सा देना पड़ता था। दियासलाई की पट्टी तैयार करने का तो इरादा ही हो गया था, पर उसके लिए लकड़ी मिलना मुश्किल था। हम यह अच्छी तरह जानते थे कि खड़ू की सीख की बुहारी काबिल हाथो मे रहने पर अपना तेज असर दिखलाती है, लेकिन उसके छूने से दीये की बत्ती नही जल सकती है।[1]

बहुत से प्रयोग करने के बाद हम एक पेटी भर सलाई बना सके। इसमे न केवल हम लोगों का ऊँचा देश के प्रति अभिमान ही चुका, बल्कि जितना पैसा खर्च हुआ, उससे साल भर का दीया-बत्ती का खर्च भी चला होता। एक कमी इनमें और

1. बंगाल में यह मानना है कि जिस औरत के हाथ में खड़ू की सीखों की बुहारी होती है और उसका उपयोग पति पर किया जाता है तो उसका पति हमेशा उसके आगे झुका रहकर घर का काम-काज करता रहता है।

थी, वह यह है कि इनके जलाने के लिए दूसर दीये की जरूरत पड़ती थी। जिस स्व-देश गौरव की ज्योति से इनका जन्म हुआ था, यदि उस ज्योति का थोड़ा सा हिस्सा भी उन्होंने ग्रहण किया होता तो आज भी वे बाजार में लाने योग्य नहीं होती।

एक बार हमें यह खबर मिली कि कोई जवान छात्र भाप से चलने वाला हाथ का करघा तैयार करने में लगा हुआ है। खबर मिलते ही उसी वक्त हम उसे देखने को गये। उस करघे के आंखो के सामने काम में लाने के बारे में हममें से किसी को भी जानकारी न थी तो भी उसके काम में लाये जाने के प्रति विश्वास भरी आशा में हम किसी से हटने वाले न थे। कल पुर्जों की खरीद करने के कारण उस बेचारे पर थोड़ा सा कर्ज हो गया था, हमने वह चुकवा दिया। कुछ दिनों बाद बृज बाबू अपने सिर पर एक मोटा सा टॉविल लपेटे हुए आये और कहा—"देखो यह अपने करघे पर बना हुआ है।" इस तरह जोर से चिल्लाते हुए हाथ ऊंचा कर खुशी की लहर में नाचने लगे। उस समय बृज बाबू के बाल सफेद होने लगे थे तो भी उनमें इस तरह का जोश मेल रहा था। आखिर में कुछ व्यवहार चतुर लोग हमारे समाज में आ मिले और उन्होंने अपने व्यवहार ज्ञान का फल चखना शुरू करके हमारा यह छोटा सा बगीचा तहस-नहस कर डाला।

जिस समय राजनारायण बाबू से मेरी पहले-पहल जानकारी हुई, उस समय उनके बहुत से गुणों को जानने लायक मेरी उम्र न थी। उनमें अनेक गुणों का मिलन था। उनके सिर और दाढ़ी के बाल सफेद हो गये थे तो भी हममें से छोटे से छोटे बच्चे जितने वे छोटे थे। जवानी को हमेशा बनाये रखने के लिए उनके शरीर ने सफेद कवच पहिन लिया हो। उनके गहरे पंडितपन का उन बातों पर जरा भी प्रभाव नहीं हुआ था और रहन-सहन भी ज्यों का त्यों सादा था। उनमें बुढ़ापे की गंभीरता, बीमारी, दुनियादारी के झंझट, विचारों की गम्भीरता और अनेक ज्ञान-सचय काफी तादाद में था, तो भी इन बातों में से किसी एक भी बात के कारण उनके निष्कपट सुन्दर हास्य रस में कभी कमी नहीं हुई। इंगलिश कवि रिचर्डसन के वे बहुत ही प्यारे शिष्य थे। इंगलिश पढ़ाई के माहोल में ही उनका लालन-पालन हुआ था, तो भी बचपन के विपरीत संस्कारों को दूर कर बड़े प्यार और भक्ति के साथ वे बंगाली साहित्य के भक्त बने थे। यद्यपि वे बहुत ही शान्त प्रकृति के थे तो भी उनमें तीखापन कम न था और देश गौरव की ज्वाला ने उनमें इतनी जगह कर ली थी कि यह मालूम देता था कि मानो वह ज्वाला देश की बुरी दशा को जलाकर राख में मिला देने के खयाल में है। वे हंस-मुख, मीठे-बोलू, जोशीले और ताजिन्दगी जवानी के जोश में थे। उनकी ऐसी काबिलियत थी कि मेरे देश के भाई इस सज्जन पुरुष का चरित्र अपनी याद के पटल पर खोदकर उसका हमेशा जय-जयकार करते रहें।

□

भारती

मैं जिस वक्त के बारे में लिख रहा हूं, वह वक्त अक्सर मेरे में खुशियों की लहरें पैदा करने वाला था। बिना किसी खास कारण के प्रचलित बातों के खिलाफ जाने की बड़ी इच्छा से मैंने कई नींद से रहित रातें इन दिनों में बिताई होंगी। पढ़ने की जगह धुंधले उजाले में मैं अकेला ही बैठा बहुत देर तक पढ़ा करता था। बहुत दूर ईसाइयों का एक चर्च था। वहाँ हर पन्द्रह मिनट पर घण्टे बजते थे। मानो बीतने वाले हरेक घण्टे का नीलाम पुकारा जाता हो। उधर नीमटोला मरघट की ओर चितपुर के रास्ते से मुर्दे को ले जाने वालों की 'हरि बोलो भाई हरि बोलो' की कड़वाहटभरी आवाज भी आकर कान पर बीच-बीच में टकरा जाती थी। कभी-कभी गर्मी की उजली रातों में गच्ची पर हुए कुंडों की छाया और चांद के उजाले में मैं एक बीमार पिशाच के समान घूमता रहता था।

इसे यदि कोई निरी कवि कल्पना समझ कर इसकी लापरवाही करेगा तो वह भूल होगी। इतनी बड़ी और बहुत पुरानी जमीं भी कभी-कभी अपना चैन और मजबूती को छोड़ कर हमें चकित कर डालता है। जिस समय जमीं जवानी में थी, उसका ऊपरी आवरण बढ़कर उसे कठोरता नहीं मिली थी, उस समय उसके भीतर से लपटें फूटती थी और डरावनी लीलायें करते हुए उसे बड़ा मजा मालूम होता था। इन्सान की भी ऐसी ही दशा है। जब वह जवानी में कदम रखता है, तब उसमे भी यही बात होती है। उम्र के चढ़ाव की दिशा को निश्चित करने वाली बातों को जब तक कोई रूप मिलता नहीं, तब तक इन्सान में भी खलबली पैदा होना एक आम बात है।

इन्हीं दिनों मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र ने बड़े भाई के संपादकत्व में 'भारती' नामक मासिक अखबार छापने का इरादा किया। हमारे उत्साह के लिए यह एक नया भोजन मिला। इस समय मेरी उम्र सिर्फ सोलह साल की थी। मेरा नाम भी संपादकों की सूची में रखा गया था। थोड़े ही दिनों बाद मैंने अपनी जवानी के गर्व को शोभा देने वाली दुष्टता से 'मेघनाथ वध' की आलोचना 'भारती' में लिखी। जिस तरह कच्चे आमों में खटाई होना आम बात है, उसी तरह बुरे वचन और अर्थहीन टीका-टिप्पणियां हल्के आलोचकों के गुण हैं। मालूम होता है कि दूसरी ताकतों के अभाव में दूसरों को चूर करने वाली ताकत ज्यादह तेज होती है। इस तरह मैंने उस

अमर महाकाव्य पर प्रहार कर खुद अमर होने का यत्न किया। बिना किसी संकोच के भारती में लिखा हुआ यह मेरा पहिला गद्य-लेख था।

भारती से पहिले साज मे मैंने 'कवि-कहानी' नामक एक लम्बी चौड़ी कविता भी छपवाई थी। इस समय इस कविता के लेखक ने अपने बेसाफ और पढकर खयाली चित्रों की बनिस्पत ससार का और किसी तरह अनुभव नही पाया था। इसीलिए यह सहज था कि इस 'कवि-कहानी' नामक कविता के नायक कवि का चित्र लेखक के मौजूदा हालात की छाया न हो र उसकी भावी कल्पना या उड़ान की छाया हो। लेकिन इस पर से यह भी नही कहा जा सकता कि लेखक खुद उस चित्र के समान होने की इच्छा रखता था। लेखक के रिश्तेदारों को जितनी उसे आशा थी उससे कही ज्यादह भड़कीले रगो मे यह चित्र चितेरा गया था। इस कविता में अपने बारे में लोगों से कहलाया गया था कि वाह! कवि हो तो ऐसा हो। विश्व-प्रेम की बातें कहने मे बडी सहल और देखने मे भव्य हुआ करती हैं। अत उस कविता में इसकी भी खूब रेल-पेल थी। जब तक किसी भी सही बात का मन पर प्रकाश नही पड़ता और दूसरे के शब्द ही अपनी थाती हुआ करते हैं, तब तक सादगी, नम्रता और मर्यादा होना सभव नही है और इस कारण जो बात स्वभाव से भव्य हुआ करती है, उसे और भी ज्यादह भव्य प्रकट करने का मोह होता है। इस मोह के दिखावे में उस कवि की कमजोरी और हसी का दिखावा हुए बिना नही रहता।

मैं यदि शर्मिन्दा होकर बचपन के अपने लेखन-धारा की ओर देखता हूं तो मुझे बचपन और उसके बाद के लेखों के नतीजे की ओर खास निगाह देने के कारण रहा हुआ बेसाफ रूप का अर्थ विपरीत देखने को मिलता है और उससे मुझे डर ही लगता है। यद्यपि यह बेशक है कि बहुत सी बात व मेरे विचार मेरी आवाज की कठोरता मे दब जाते हैं, लेकिन मुझे भरोसा है कि कभी न कभी 'समय' मेरा सही रूप सामने लाये बिना न रहेगा।

यह 'कवि कहानी' ही किताब रूप में संसार के सामने आने वाली मेरी पहली रचना थी। जब मैं अपने बडे भाई के साथ अहमदाबाद गया हुआ था तब मेरे एक उत्साही जन ने उसे छपवा डाला और एक नमूना मेरे पास भेज कर मुझे अचम्भे मे डाल दिया था। मेरा कहना यह नही है कि उसने यह काम अच्छा किया था, लेकिन उस समय मेरी विचारधारा तपे हुए जन की तरह भी नही थी, जो मैं उसे सजा सुनाता। तो भी उसे सजा मिल ही गयी। मेरे द्वारा नहीं, पर पाठकों के द्वारा, क्योंकि मैंने यह सुना था कि किताबों का बोझ बेचने वालों की आलमारी पर और अभागे छापने वाले के मन पर बहुत दिनो तक रहा।

जिस उम्र मे मैं भारती मे लेख लिखने लगा, उस उम्र में लिखे हुए लेख अक्सर छापने काबिल नही होते। बड़ी उम्र में पश्चाताप करने के लिए बचपन मे

लिखी हुई किताब छाप कर रखने के समान दूसरा कोई उपाय नही है। परन्तु इसमें एक फायदा भी है वह यह कि अपने लेख छपे हुए देखने की आदमी में जो जरूरी इच्छा होती है वह बचपन में ही इस तरह नष्ट हो जाती है और साथ में अपने पाठकों की, उनके अपने सम्बन्ध के विचारों की, छपाई की, सही-गलती की चिन्ता भी बचपन के रोगों की तरह नष्ट हो जाती है। फिर बड़ी उम्र में लेखक का निरोगी और तन्दुरुस्त मन से लेखन कार्य करने का अच्छा मौका मिलता है।

बंगाली भाषा अभी इतनी पुरानी नहीं हुई कि वह अपने बूते से अपने पुजारियों की स्वतन्त्र साधना को रोक सके। लेखक को अपने लेखन के अनुभव पर से ही गुरु को रोकने वाली ताकत पैदा करनी पड़ती है। इसलिए बहुत समय तक निम्न कोटि का साहित्य पैदा करने में रोकना मुश्किल ही हो जाता है। शुरू-शुरू में इन्सान में अपने मर्यादित गुणों से ही चमत्कार दिखाने की इच्छा जन्म लेती है, इसका नतीजा यह होता है कि यह अपनी स्वाभाविक शक्ति को कदम-कदम पर उलांघता और वास्तविक शक्ति की पहिचान समय आने पर ही हुआ करती है यह एक निश्चित बात है।

कुछ भी हुआ तो भी आजकल शर्मिन्दा करने वाला मूर्खपना उन दिनों की भारती में इकट्ठा कर रखा हूं। उसके साहित्य दोष ही मुझे लज्जित नहीं कर रहे हैं बल्कि सीमा से ज्यादह गर्व और बनावटीपन के दोष भी लज्जित करते हैं। इतना होने पर भी एक बात साफ है कि उस समय के मेरे लेख उत्साह से भरे हुए है। जिसकी योग्यता कोई भी कम नहीं कर सकता। वह समय ही ऐसा था कि उसमें गलती होना जितना स्वाभाविक था, उतना आशा रखना, श्रद्धापन और आनन्द की भावना का होना भी स्वाभाविक था। इच्छा की पुष्टि के लिए भूल रूपी ईंधन की जरूरत थी। उससे जलने योग्य पदार्थ जलकर राख हो जाने पर भी उस ज्वाला से जो काम बने, वह मेरी जिन्दगी में कभी बेकार नहीं जायेगी। □

अहमदाबाद

'भारती' का दूसरा साल शुरू होने पर मेरे बड़े भाई ने मुझे विलायत ले जाने का विचार किया। पिताजी की राय के बारे में शक था, लेकिन उन्होंने भी मंजूरी दे दी। इसे मैं परमेश्वर की एक देन ही मानता हू। इस अनसोची बात से मैं चकित हो गया। जब मेरा विलायत जाना तय हुआ उन्ही दिनों मेरे भाई की नियुक्ति मजिस्ट्रेट के पद पर अहमदाबाद में की गई थी। इसलिए मैं उसके पास अहमदाबाद गया। वे अकेले ही रहते थे। मेरी भौजाई उन दिनों अपने बाल-बच्चों सहित इंग्लैण्ड में थी। इसलिए उनका घर एक तरह से सूना सा था।

अहमदाबाद के जज के रहने के लिए एक 'शाहीबाग' नाम की जगह तय थी। यह जगह बादशाही जमाने की है और उन दिनो इनमें बादशाह रहते थे। अब यह बड़ी और सुन्दर इमारत है। इसके चारो ओर कोट और गच्ची थी। कोट के एक ओर उससे लगी हुई साबरमती नदी है। वे गर्मी के दिन थे। इसलिए नदी का पानी सूख गया था और दुबली धारा के रूप में एक ओर बहता था। जब मेरे भाई दुपहर के समय कचहरी चले जाते, तब मैं अकेला ही रह जाता। घर सुनसान हो जाता जहां तहां चुप्पी फैल जाती। इस चुप्पी को तोड़ते हुए कभी-कभी कबूतरों की आवाज बीच-बीच में आया करती थी। इस चुप्पी से मेरा समय इधर उधर अनजान चीजों को देखने-जानने में ही बीता करता था। इससे मेरा मन भर जाता था और इसी मन भरोसी के जोश मे मैं सुनसान दालानो में इधर-उधर घूमा करता था।

एक बड़े दालान के एक कोने में मेरे बड़े भाई ने अपनी किताबें रख दी थी। उसमें एक 'टेनिसन' के लेखो का संग्रह भी था। यह ग्रंथ तसवीरो के साथ मोटे अक्षरों मे छपा हुआ काफी बड़ा था। उस राजमहल ने जिस तरह भोलापन साध रखा था, उसी तरह इस किताब ने भी। उस महल मे जानने की मशा से मैं उसके दालानो में इधर से उधर घूमता रहता, पर मन को हल नही मिलता। उसी तरह इस किताब की तसवीरो को भी मै बार-बार देखता, पर उसके सूत्र को नही समझ पाता था। यह बात नहीं है कि मैं उसे बिल्कुल ही नहीं समझ पाया, पर इतना कम समझा कि उसे बाचते समय वह मतलब वाले लब्जो मे भरी है। यह मालूम होने की बनिस्पत मुझे उसमे पछियो की चुलबुलाहट का भान होता था। इन्ही किताबों मे मुझे एक संस्कृत कविता की किताब मिली। इसे डाक्टर हबरलिन ने श्री रामपुर के छापेखाना मे छपाकर प्रकाशित की थी। यह किताब भी बिल्कुल

समझ में ग्राने लायक नही थी तो भी ग्रपनी हमेशा की जानने की मशा के ग्रनुसार मैं इसे बांचने लगा। इसमे संस्कृत के शब्दों की खनखनाहट, तेज गति के ग्रलग-ग्रलग छन्दों ग्रौर 'ग्रमरुशतक' के पदों की कोमल व धीमी चाल इतनी वातें एक साथ मिल जाने पर फिर क्या पूछना है। समझ में ग्राग्रो या मत ग्राग्रो, मैं तो इसे वार-वार पढने लगा।

उस महल के मीनार के सबसे ऊपर के कमरे मे मै रहता था। यह जगह विल्कुल एकांत में थी। यहाँ मुझे किसी का भी साथ न था। हा, यह मधुमक्खी का छत्ता था, वह जरूर मेरा साथी था। रात के सूने ग्रंधेरे मे मैं वहा ग्रकेला ही सोता था या वीच-बीच मे एक दो मक्खी छत्ते मे से मुझे पर गिर पडती थी। ज्योंही नीद मे मैं करवट वदलता त्यों ही वह मेरे नीचे दबी हुई मिलती। हम दोनों की यह ग्रापसी भेंट डरावनी होती थी। मेरे शरीर के नीचे दव जाने से उसे दर्द ग्रौर उसके काटने से मुझे दर्द।

मेरे में ग्रनेक लहरें उठा करती थी। उनमें से चादनी के उजाले में दरिया से लगी हुई गच्ची पर इधर से उधर घूमने की भी एक लहर थी। चाँद के उजाले मे ग्रासमान की ग्रोर देखते हुए कुछ न कुछ विचार मे डूबा मैं घूमा करता था ग्रौर इस घूमने मे कितना वक्त निकल जाता था, इसका भान भी नहीं रहता था। इसी घूमने मे मैंने ग्रपनी कविताग्रो के लिए गाने का स्वर मिलाया, ग्रौर बहुत से पदों को वनाया। इन्ही में से 'गुलाब प्रमदा' के नाम से लिखा पद भी है, जो ग्रागे जाकर छपा ग्रौर ग्रब भी मेरे दूसरे पदों के साथ-साथ वह छापा जाता है। ग्रहमदाबाद मे मेरा दूसरा काम ग्रंग्रेजी किताबों को जाचने का था। जब मुझे यह मालूम हुग्रा कि मेरा ग्रग्रेजी ज्ञान विल्कुल ग्रधूरा है ग्रौर उसे बढाने की जरूरत है, तब मैंने 'कोश' की सहायता से किताबें बांचना शुरू किया। बहुत छोटी उम्र से मुझे ऐसी ग्रादत पड़ गई थी कि न समझने पर भी मैं किताब पूरी किये विना नही छोडता था। सारी किताब का मतलब न समझने पर भी बीच-वीच में जो कुछ मैं समझता था उसी के ग्राधार पर ग्रागे पीछे का जोड़ना कल्पना से मिला लेता था ग्रौर उससे जो मुझे ग्राधा ज्ञान होता, उसी से मैं सन्तोष पा लेता था। इस ग्रादत का भला बुरा नतीजा ग्राज भी मुझे भोगना पडता है।

☐

विलायत

इस तरह अहमदाबाद में छह महीने निकालकर हम विलायत को रवाना हुए। बीच-बीच मे अपने विश्वासियो को और 'भारती' को यात्रा-वर्णन लिखा करता था। अब मुझे मालूम होता है कि यदि मैंने उस समय यात्रा वर्णन नही लिखा होता तो अच्छा होता, क्योकि मेरे हाथ से निकलते ही वे वर्णन जग जाहिर हो गये। उनका वापिस आना मेरे हाथ नही रहा। इन खतो के बारे में मुझे जो फिक्र हुआ उसकी वजह यह है कि वे जवानी में गर्व भारी बातो के एक दृश्य चित्र ही थे। जवानी की शुरुआत ऐसी ही होती है। उस समय ससार का ज्ञान नही रहता और न यह खयाल ही रहता कि बुद्धि जगत की बनिस्पत व्यवहार का जगत अलग तरह का होता है। उस समय खयालों का ही सहारा रहता है। नया उछाले मारता है। ऐसे वक्त मे मन का विकास करने के लिए नम्रता ही श्रेष्ठ उपाय है, यह सादी बात भी मन को नही रुचती। इस समय दूसरे के कहने को समझना, उसके गुण का आदर करना, उस रचना के बारे मे ऊंचे विचार रखना, कमजोरियों और हार का निशान माना जाता है और दूसरे के असर को मजूर करने की धारणा नही रहती। तर्क करके दूसर को हराना और अपना असर जमाने की जब इच्छा होती है तब शब्द के आग भरे तीरो की बरसात हुए बिना नही रहती। मेरे खतों की भी करीब-करीब यही हालत थी। दूसरे को नाम रखकर दूसरे के कहने को मिटा कर अपने बड़प्पन जमाने की खुन खुभी मेरे खून मे भी खेल रही थी। यदि सीधेपन और दूसरे की मुहब्बत का ख्याल करके मैंने अपने विचार सही बताने का उन खतो में यत्न किया होता तो आज उन्हे देखकर मुझे एक तरह सुख होता और हँसी आये बिना नही रहती लेकिन बात इसके बिलकुल खिलाफ थी। इसीलिए अब मुझे यह मालूम होता है कि मैंने किसी गलत मुहूर्त मे उन खतो को लिखना शुरू किया था।

उस समय मेरी उम्र सत्रह साल की थी। दुनिया का मुझे कुछ भी ज्ञान न था, क्योकि इस समय तक बाहरी ससार से मेरा कभी कोई वास्ता न था। संसार के व्यवहारो से मैं एक दम अनजान था। ऐसे अनजान और व्यवहार रहित दशा मे विलायत सरीखे देश को, जहा की दशा और समाज अपने देश की दशा और समाज से अलग है, मैं जा रहा था। वह ठहरा विलायत। वहा का समाज एक महासागर। जबकि एक सादे और उथले बहाव में भी चार हाथ नही मार सकता

तो फिर उस महासागर की क्या बात ? वहाँ मै कैसे तैर सकता था। इसी बात का डर मुझे रह-रह कर लगता था, परन्तु 'ब्रामटन' मे मेरी भौजाई अपने बाल-बच्चों के साथ रहती थी। पहले-पहले हम वहीं गये और उसके आधार से मैं पहिला झंझट से तो पार हो गया।

उस वक्त ठंड का मौसम नजदीक आ पहुचा था। एक दिन शाम को बैठे हम गप्पे मार रहे थे कि लड़के बर्फ गिर रहा है यह कहते हुए हमारे पास दौड़ कर आये। यह सुनकर मैं चकित हो गया और देखने के लिये बाहर गया। बाहर की ओर कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और वह शरीर को भेदे डालती थी। सफेद झक उजाले से आसमान भरा हुआ था और सारा संसार बर्फमय हो जाने के कारण ऐसा मालूम होता था मानो उसने सफेद कवच पहिन लिया हो। इमारतें, बगीचे, पेड़ लताए, पत्ते वगैरह कुछ न दिखकर जहाँ-तहाँ सफेदी ही सफेदी दिखलाई पड़ती थी। संसार का यह दृश्य मेरे लिए अनजान था। भारत में जो संसारी-सुन्दरता मेरी नजर में आई थी, वह इससे अलग थी। उस समय मुझे यह भान हुआ कि मैं सपना तो नही देख रहा हू। मैं जागता हुआ भी सन्देह करने लगा। उस समय नजदीक की चीज भी ज्यादह दूर पर मालूम होती थी। दरवाजे से कदम बाहर रखते ही मन को अचम्भे में डाल देने वाली ससारी-सुन्दरता दिखलाई पड़ती थी। इससे पहिले संसारी-सुन्दरता का ऐसा समूह मैंने कभी नहीं देखा था।

अपनी भौजाई की प्यार भरी छाया में लड़कों के साथ खेलते-कूदते, रोते-गाते और ऊधम मचाते हुए मेरे दिन सुख से बीतने लगे। मेरे अंग्रेजी का बोलना सुनकर उन्हे बड़ा मजा आता था। यद्यपि मैं उनके खेल-कूद में मन से शामिल होता था और उससे मुझे भी खुशी होती थी, लेकिन मेरे अंग्रेजी बोलने पर उन्हे मजा आता और मेरी मजाक उड़ाते। Warm शब्द मे a (ए) और Worm शब्द के o (ओ) के बोलने मे तर्क की कसौटी पर ठहरने लायक कोई फर्क नही है। मुझे उन बच्चों को यह समझाते-समझाते नाक मे दम आ जाता था कि भाई इस तरह के बोलने के लिये कोई एक खास कायदा नही है। लेकिन वे क्या समझने वाले थे, और उसमे मेरा भी क्या कसूर था ? अंग्रेजी के शब्दों की रचना ही जब कमियों वाली है। इसकी न तो कोई रीति और न कोई कायदा ही। लेकिन ऐसी कमियों वाली रीति की मजाक न होकर मजाक की मार मुझे सहनी पड़ती थी। इसे मैं अपनी बदकिश्मती के सिवाय और क्या कह सकता हूं।

इस अर्से में बच्चों को किसी न किसी बात मे लगाकर रखना उनका जी बह-लाने के लिए तरह-तरह के रास्ते खोज लेने में मैं चतुर हो गया। इसके बाद कई बार मुझे इस खुद की बनाई कला की जरूरत पड़ी और आज भी ज्यादह जरूरत मालूम होती है लेकिन उस समय जिस तरह अगिन नई नई तरकीबें सूझा करती थी, वह

बात अब नही रही। बच्चों के आगे अपने मन को खोल रखने का यह मुझे पहिला ही मौका मिला था और इस मौके का मैंने भरभूर इस्तेमाल किया था।

हिन्दुस्तान में मिलने वाले घरेलू-सुख के बजाय समुद्र पार के घरेलू-सुख को पाने के लिए तो मैं विलायत भेजा ही नही गया था और न चार दिन हंसी-मजाक में बिताकर लौट आने के लिए ही भेजा गया था। वहा भेजने का तो यह मुद्दा था कि मैं कानून का अभ्यास करूं और बैरिस्टर बनकर लौटूं। अतः अब मेरे पढ़ने की बारी आई और बायरन शहर के एक स्कूल में दाखिल किया गया। पहले ही दिन वहां की रीति के अनुसार मुझे पहले-पहले हैड-मास्टर साहब के पास जाना पड़ा। एक-दो सवालों के बाद मेरे चेहरे को गौर से देखते हुए वे बोले कि "तेरा ललाट कितना सुन्दर है ?" पाच शब्दों का यह एक ही वाक्य था, लेकिन वह वाक्य और वह प्रसंग मुझे इस तरह याद है, मानो आजकल की बात हो, क्योकि घर में रहते समय मेरी भौजाई हमेशा मेरे झूठे गर्व को रोकने की कोशिश किया करती थी। वह मेरे गर्व को कभी सिर न उठाने देती थी। वह काम अपने-आप ही-अपने ऊपर ले लिया था। वह कहा करती कि तुम्हारे सिर के हिस्से और गाली को देखते यह मालूम होता है कि दूसरो के बजाय तुम्हारी बुद्धि बीच की श्रेणी की है। उसने अपना यह विचार मेरे दिल में अच्छी तरह जमा दिया था और मैं भौजाई के इस कहने पर आंख बन्द कर भरोसा भी करता था और मुझे बनाते वक्त विधाता ने जो कजूसी की थी, उस पर मन ही मन दु.खी हुआ करता था, मैं दूसरे के कहने को चुपचाप मान लेता हू। आशा है कि मेरी इस सज्जनता की आप लोग कद्र करेंगे। मेरी भौजाई के द्वारा मेरे गुणो की जितनी सराहना होती थी, उसकी बजाय ज्यादह सराहना विलायत मे कई बार मेरे जानकार लोगो के द्वारा हुई है। दोनों देशो के लोगों की गुण बखानने में यह फर्क देखकर मेरे दिल को बार-बार दु.ख होता था।

इस स्कूल में भी मैं ज्यादह नही, रहा, लेकिन यह स्कूल का दोष नही था। बात यह थी कि उस समय 'श्री तारक पालित' विलायत मे ही थे। उन्हे यह भास हुआ था कि इस तरीके से मेरे कानून पढने का काम पूरा नही होगा। अतः उन्होने मेरे भाई को इसके लिए तैयार किया कि मैं लदन भेजा जाऊं और वहा किसी के घर पर रहकर पढ़ूं। अतः मैं लदन भेजा गया। लदन में रहने की व्यवस्था तारक बाबू ने की। जिस परिवार में यह व्यवस्था की गई थी, वह रिजेट बाग के सामने रहा करता था। जब मैं लंदन गया तब खूब सर्दी पड रही थी। ऊंचे-ऊंचे पेड़ो पर सर्दी के जोर के मारे एक भी पत्ता नही रहा था, और उनकी टहनिया बर्फ से ढक गई थी। चारो ओर बर्फ ही बर्फ दिखलाई पड़ती थी।

पहले पहल जाने वाले के लिए लदन की सर्दी बडी दु खदायी होती है। सर्दी में इतनी दु.खी जगह शायद ही कोई दूसरी होगी। अडोस-पडोस मे मेरी किसी से

की जान-पहिचान न थी और किसी से पहिचान भी करूं तो कैसे ? अतः बाहरी दुनिया को एक टक नजर से देखते हुए खिड़की में अकेले बैठे रहने के दिन मेरी जिन्दगी में फिर आ गये थे। इस समय संसारी-सुन्दरता मन को नहीं लुभाता था। संसारी देवता नाराज हो रहे थे, और ऐसा मालूम होता था कि मानो उसके ललाट पर गुस्से के निशान के रूप में सलें पड़ी हुई है। आकाश धूसर हो गया था और मरे हुए इन्सान के तेज रहित आंखों की तरह प्रकाश फीका पड़ गया था। क्षितिज प्रदेश सिकुड़ गया था। इस तरह वह सब दृश्य डरावना दिखलाई पड़ता था और इस बड़े भारी संसार में मेहमानबाजी से भरे हुए मीठे मुस्कान का पूरा अकाल पड़ गया था। घर के बाहर की यह दशा थी और घर के भीतर जोश आने का कोई उपाय ही न था। मेरे रहने की जगह बहुत ही साधारण तरीके से सजी हुई थी। दीवानखाने को सजाने लायक कोई चीज वहां न थी। हां, कहने के लिए एक बाजे की पेटी जरूर थी। दिन ढलते ही मैं पेटी लेकर बैठ जाता और चाहे जिस तरह उसे बजाता था। कभी-कभी कोई हिन्दुस्तानी गृहस्थ मुझसे मिलने को आया करते थे और इधर-उधर की बातें करके जब वे जाने को तैयार होते तो उनसे थोड़ी जानकारी होने पर भी, उन्हें न जाने देने की मुझे इच्छा होती और इसके लिए उनका पल्ला पकड़ कर बैठाने को बार-बार बेचैन हो जाता था।

यहां मुझे लेटिन सिखाने के लिए एक मास्टर जी रखे गये थे। उनका शरीर बहुत दुबला था। कपड़े पुराने पहिनते थे। सर्दी का कड़ाका सहने के लिए पत्ते रहित पेड़ों की बनिस्पत उनमें ज्यादह ताकत नहीं थी। उनकी उम्र यद्यपि मुझे मालूम नहीं है, पर जितनी थी उससे अधिक लगती थी। पढ़ाते-पढ़ाते बीच मे ही एकाध शब्द अड़ जाता था। इसीलिए वे सूने से होकर शर्मिन्दा हो जाते थे। उनके घर के आदमी उन्हें अक्सर सनकी समझा करते थे। उन्होने एक बात की खोज की थी और उसी के फिक्र मे रात दिन लगे रहते थे। उनको यह पक्का भरोसा था कि हरेक युग के इन्सानी समाज मे कोई एक ही खयाल खास रूप में उभरता है। संस्कृति की कमी-बेशी के कारण इसी खयाल का रूप तरह तरह का होता हुआ भी जड़ से एक ही तरह का होता है। इस खास खयाल को पैदा करने वाला कोई एक खास समाज हो वह दूसरे समाजों द्वारा मंजूर किया जाता है यह बात नहीं है। किन्तु तरह तरह के समाजो में एक ही समय में एक ही तरह का खयाल का जन्म लेना दिखलाई पड़ता है। अपनी इस नई खोज को साबित करने के लिए प्रमाणों को जुटाने और उसे लिखने मे हमेशा लगे रहते थे। यही एक बाधा उन्हे चैन नहीं लेने देती थी। किसी भी काम मे उनका मन नहीं लगता था और पेट भरने का दूसरा कोई उपाय न था। अतः घर में चूहे लोटा करते थे। फिर शरीर पर ठीक कपड़े कहां से आते। संतान में इनके लड़कियां थी। उनका इस सिद्धान्त पर भरोसा नहीं था और वे अपने पिता की खोज का बहुत थोड़ा आदर करती थी। वे अपने पिता को पागल समझा

करती और मैं समझता हूं कि बार-बार उनको फटकारती रही होगी। कभी-कभी उनके चेहरे पर एकदम सुख की छटा पसर जाती और उस पर लोग यह समझते कि उन्हें कोई नये सबूत मिल गये होंगे। उनकी ताजगी देखकर मुझे भी जोश आता था। लेकिन कभी-कभी इससे भी उलटा होता था। उनका सब आनन्द भाग जाता था। आवेश खत्म हो जाता और दुःख में इतने चूर हो जाते कि उन्हें सिर पर लिया हुआ यह बोझ सहन नहीं होता था। ऐसे समय में हमारी पढ़ाई की बात क्या पूछना? कदम-कदम पर रुकना और उदास मन होकर किसी एक ओर टकटकी लगा कर देखते रहना। उस समय लैटिन ग्रामर की पहली किताब मैं पढ़ रहा था, लेकिन इस ओर उनका मन क्यों लगने लगा? किताब सामने रखी हुई है, सीखने के लिए मैं सामने बैठा हुआ हू, लेकिन मास्टर जी का मन सूने आसमान में हवा खा रहा है। शरीर से दुबले और ऊपर बताये बोझ से दबे हुए गरीब मास्टरजी पर दया आती थी, लेकिन सीखने में इनसे मुझे कोई सहायता नहीं मिलती थी, तो भी इन्हें छोड देने का मेरे मन मे इरादा नहीं होता था। जब तक मैं इस परिवार में रहा, लैटिन सीखने का यही तरीका रहा। कुछ दिनो बाद मुझे दूसरी जगह पर रखने का इरादा किया गया। अत. जाने से पहिले मैंने अपने मास्टर जी से पूछा कि आपको क्या देना चाहिये? दुःखी होकर उन्होने जवाब दिया कि "मैंने तुझे कुछ नहीं पढाया, बल्कि तेरा समय ही लिया है, अत. मुझे तुझसे कुछ भी नही लेना चाहिये।" इस पर मैंने बहुत जिद की और अन्त में फीस लेने के लिए उन्हे तैयार किया।

मेरे उन मास्टरजी ने अपने ज्ञान के समर्थन के लिए जुटाये हुए सबूतों को मुझे समझाने की कभी कोशिश नही की। इसलिये यद्यपि उनकी बात को मैं समझ नही सका तो भी आज तक इस सिद्धान्त पर मैंने आपत्ति नही की। उनका वह सिद्धान्त मुझे उस समय सही लगा और आज भी लगता है। मेरा भरोसा है कि किसी ज्यादह गहरे और अखंड तार के द्वारा इन्सानो के मन एक-दूसरे से बधे हुए है और इसीलिए एक ओर 'खट' होने पर बीच के इसी न दिखाई देने वाले तार के द्वारा दूसरी ओर तुरन्त 'खट' हो जाता है!

इसके बाद श्रीयुत पालिन ने मुझे 'बार्कर' नाम के एक मास्टरजी के घर पर रखा। वे अपने घर पर छात्रों को रखकर उनके इम्तिहान की तैयारी करा दिये करते थे। ऐसे ही छात्रो मे से मैं भी एक था। फुर्तीली और सीधी-सादी स्त्री के सिवाय दूसरी चीज उनके घर मे न थी। यह समझना मुश्किल नहीं है कि विद्यार्थी को शिक्षक चुनने की सुविधा न मिलने के कारण ही ऐसे शिक्षक को ट्यूशन मिला करती है। लेकिन पढाई के समान स्त्री पाना आसान नहीं है। स्त्री पाने मे क्या-क्या मुसीबतें आती हैं—यह सुनने पर मन चकित हो जाता है। श्रीमती बार्कर का एक कुत्ता था। इसके साथ खेलने मे उन्हे बहुत सतोष मिलता था। जब बार्कर साब अपनी स्त्री को परेशान करना चाहते थे तब इस कुत्ते को सताया करते।

नतीजा यह होता कि इस गूंगे जानवर पर उस बाई का प्यार ज्यादह बढ़ता जाता, साथ में अपने पति से मनमुटाव भी।

इन हालात से मुझे ज्यादह दिनों तक नही रहना पड़ा और मेरी भौजाई ने मुझे डेव्हन शायर में टर्क स्थान पर रहने के लिए बुला लिया। उस समय मैं खुशी से फूल गया और तुरन्त वहां चला गया। वहां की टेकड़िया, खिले हुए फूलो से ढका बगीचा, पाइन पेड़ों की छाया और बहुत चचल दोनो खिलाड़ी साथियों के संगत में मैं कितना खुश था, यह कहना मुश्किल है। इस तरह मेरी आँखें सुन्दरता से भर गई थीं। मन खुश था और मेरे दिन आराम से बीत रहे थे। ऐसे समय में भी कविता क्यों नही जगती, इस चिन्ता से मैं अपने-आपको दुखी बना लेता था। एक दिन कवि की किस्मत आजमाने के लिए मैं कोरी किताब और छतरी हाथ में लेकर पहाड़ के छोर की ओर चला गया। मेरी खोजी हुई जगह बेशक खूब सूरत थी। उसकी सुन्दरता मेरी ख्याल ताकत या यमक के ऊपर निर्भर नही थी। पहाडी शिरा आगे आया हुआ था और वह जल तक चला गया था। आगे की ओर भाग-भरी लहरों में डूबते सूरज की किरणें सो रही थी। सूरज आराम के लिए एकात में जा रहे थे। थके हुए वन देवता के खुले आचल से पाइन पेडो की छाया, पीछे की ओर फैली हुई थी। ऐसी सुन्दर जगह में एक शिला पर बैठकर 'महनतरी' (डूबी हुई नौका) नाम की कविता लिखी थी। उसी समय उस कविता को यदि सागर में डुबो दिया होता तो अच्छा होता। अब उसे मेरी दूसरी कविताओं में स्थान मिल गया है। यद्यपि मेरे छपे काव्य ग्रंथों में उसे जगह नही मिली है, तो वह कविता सुखी हो गई कि उसे कोई भी छाप सकेगा।

इस तरह कुछ दिनो तक मेरे दिन वहां बीते थे। ये दिन अक्सर आलस मे ही बीते। मैं तो बेफिक हो गया था पर कर्तव्य थोड़े ही बेफिक होता है। अत कर्तव्य का फिर तकाजा हुआ, और मुझे लदन जाना पडा। इस बार डा. स्काट के यहा रहने की व्यवस्था की गई थी। अतः एक दिन सामान लेकर मैं उनके घर पहुंचा। डॉ. स्काट के चेहरे पर बुढापा साफ झलक रहा था। डॉ स्काट, उनकी औरत और उनकी बडी लड़की मुझे वहां मिली। दो लडकिया उनके और थी। पर वे अपने घर पर विदेशी भारतीय गृहस्थ के आने की खबर से शायद डर कर एक नातेदार के घर चली गई थी। जब मेरे पहुंचने पर उन्हें यह खबर मिली होगी कि मैं कोई डरावना इन्सान नही हू, तब वे लौट आई। थोड़े ही दिनो मे उस परिवार का और मेरा इतना प्रेम बढ गया कि मैं उनमे से एक बन गया। श्रीमती स्काट मुझे अपने बेटे की तरह समझती थी और उनकी लडकियो का मेरे साथ इतना प्यार भरा वर्ताव था, जितना कि अपने नातेदारो तक का नही होता।

इस परिवार मे रहते हुए एक बात मेरे ख्याल मे आई कि इन्सानी स्वभाव,

कहीं भी जाम्रो एक ही तरह का मिलेगा। अपने अकसर कहा करते हैं और मेरा भी ऐसा ही विचार था कि भारतीय औरतों की पति-भक्ति अनोखी हुआ करती है। वैसी यूरोपियन औरतो मे नही होती, लेकिन इस समय मुझे अपना विचार बदलना पड़ा। अच्छी श्रेणी की हिन्दुस्तानी औरत की पति भक्ति और श्रीमती स्काट की पति भक्ति मे कुछ भी फर्क न जान सका। वे अपने पति मे डूबी हुई थी। उनका स्तर साधारण था, इसलिए नौकर-चाकर भी मामूली तौर पर रखकर, फिजूल बड़प्पन न बताकर छोटे-बड़े सब काम श्रीमती स्काट अपने हाथो खुद करती थी और हमेशा अपने पति के कामों मे मदद देने के लिए तैयार रहती थी। शाम के समय पति के वापिस आने के पहले वे खुद अपने हाथों से अगीठी तैयार करके आरामकुर्सी पर खडाऊ रख देती और पति के स्वागत के लिए तैयार रहती थी। वे अपने मन में हमेशा इस बात का खयाल रखती थी कि पति को कौन-सी बात पसन्द है और किस तरह का वे बर्ताव चाहते है। आठों पहर उन्हे केवल पति-सेवा का ही खयाल रहता था।

रोजाना सुबह श्रीमती स्काट अपनी नौकरानी को लेकर घर के ऊपर की मजिल से नीचे तक आती-जाती और सफाई करवाती तथा इधर-उधर बिखरे सामान को जमवा देती। जीने के कठडे की पीतल की छड़ें, दरवाजे की कड़िया वगैरह घिसकर इतनी साफ करती कि वे फिर चमकने लगती। रोजाना के निश्चित कामो के सिवाय कितने ही सामाजिक काम उन्हें करने पडते थे। रोजाना के काम हो जाने पर शाम के वक्त हमारे बतियाने और गाने में भाग लेती थी। क्योकि फुर्सत के वक्त आनन्द में बिताने में सहायक होना अच्छी गृहिणी का एक धर्म है।

कितनी ही बार शाम को डॉ. स्काट की लड़कियां टेबिल फिरा-फिरा कर कोई खेल खेला करती थीं। मैं भी इस खेल में शामिल होता था। चाय की एक छोटी-सी टेबिल पर हम हमारी उंगलिया रखते और वह सब दीवानखाने में फिरने लगती। आगे जाकर तो ऐसा हो गया कि जिन चीजों पर हम हाथ रखते, वे सब थर-थर कापने लगती। श्रीमती स्काट को ये बातें अच्छी नही लगती थी, लेकिन इस बारे मे वे कुछ खास नही बोला करती थी। हां, कभी-कभी गम्भीर चेहरा बनाकर गर्दन हिला देती, मानो वे गहराई के साथ यह कहती थीं कि ये बातें उन्हे पसन्द नहीं है। तो भी हमारे जोश के खत्म न होने के लिहाज से वे चुपचाप हमारे इस खेल को बर्दाश्त करती थी। एक दिन डॉ स्काट की चाल के समान टोपी को फिराने के लिए हम लोगों की तैयारी हुई। उस समय यह बात श्रीमती स्काट को बिल्कुल बर्दाश्त न हो सकी। घबडायी हुई वे हमारे पास आईं और उस टोपी को हाथ न लगाने के लिए उन्होने हमे सावधान कर दिया। औलादो का एक पलभर के लिए भी अपने पति की टोपी के हाथ लगाना उन्हे बर्दाश्त नही हुआ।

उनके सब कामो मे अपने पति के बारे मे आदर खास तौर से दिखलाई पड़ता था। उनके अपने आप पर संयम की याद आते ही स्त्री-प्रेम की पूर्णता साधक-बुद्धि

मे समा गई है, ऐसा भरोसा हो जाता है। स्त्री-प्रेम की बाढ को रोकने के लिए कोई वजह पैदा हो तो फिर वह प्यार स्वाभाविक तरीके से पूजा मे बदल जाता है। जहाँ ऐय्याशी की रेलपेल और छिछोरपना रात-दिन रहता है, वही इस प्यार में गिरावट आती है और साथ ही इस प्यार की पूर्ति से मिलने वाले सुख का औरत जाति उपयोग नही कर सकती। यहा मैं कुछ ही महीने रह पाया क्योंकि मेरे बड़े भाई हिन्दुस्तान लौटने वाले थे। मुझे भी साथ मे आने के लिए पिताजी का खत आया। इस आशा से मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मेरे देश का उजाला और आसमान मुझे भोलेपन मे बुला रहे हैं, ऐसा लगने लगा। हमारी तैयारियां हो गई और मैं जाने के पहिले श्रीमती स्काट से मिलने गया। उन्होंने अपने हाथ मे मेरा हाथ लेकर रोना शुरू किया। वे खुद को संभाल न सकी और कहने लगीं—अरे! तुझे इतना जल्दी जाना था तो फिर हमारे दिल को प्यार का धक्का लगाने के लिए फिर आया ही क्यो था? अरे भगवान, ऐसे प्रेमी इन्सानों का साथ क्यों नही होने देता।"

अब लन्दन मे यह परिवार नही है। स्काट साहब के घर के कुछ आदमी किसी दूर देश को चले गये हैं और कुछ इधर-उधर हैं, जिनका मुझे पता नही, लेकिन मेरे मन में उनकी याद पूरी जिन्दगी बनी रहेगी।

मेरी इस पहली विलायत यात्रा की कुछ बाते साफ तौर से मेरी यादों मे हैं। सर्दी के दिन थे। मैं हर्न ब्रिजवेल्स के एक रास्ते से जा रहा था। रास्ते के एक ओर एक आदमी को मैंने खड़े देखा। फटे पुराने जूतों में उसकी पैर की उंगलियाँ बाहर निकल रही थी। छाती आधी खुली हुई थी। वह मुझसे कुछ नही बोला। शायद कानूनन भीख मागना वहां बन्द होने से वह गूंगा रहा होगा। सिर्फ पलभर उसने मेरे पैरों की ओर देखा। मैंने एक सिक्का खीसे से निकाल कर उसे दिया। आशा से ज्यादह कीमती भीख मिलने की वजह से पहले तो वह चार कदम आगे बढ गया पर तुरन्त ही लौटा और मुझसे बोला—'महाशय! आपने भूल से मुझे सोने का सिक्का दे दिया है।" यह बात मेरे ध्यान में ही नही रही होती, लेकिन दूसरे एक प्रसंग पर ऐसी ही एक घटना और होने की वजह से दोनों बातें मेरे खयाल मे अच्छी तरह रह गई। हार्क स्टेशन पर जब मैं पहले पहल उतरा तब एक मजदूर आया और मेरा सामान स्टेशन फाटक के बाहर खड़ी हुई गाडी में लाकर रख दिया। पैसे की थैली मे छुट्टे पैसे देखने लगा, पर न होने से मैंने उसे आधा क्राउन दे डाला। गाड़ी चलने लगी। कुछ समय बाद वह मजदूर दौड़ता हुआ गाड़ी रोकने के लिए आवाज देने लगा। मैं समझा कि मुझे भोला भण्डारी समझकर कुछ और ऐंठने की नियत से वह आ रहा है, लेकिन उसने आकर कहा कि—श्रीमान! आपने भूल से एक पेनी की जगह आधा क्राउन दे डाला।

यह नही कह सकता कि मैं विलायत मे रहकर ठगाई में नही आया। आया तो होउंगा, लेकिन वे घटनाए ध्यान में रखने लायक नही हैं। अनुभव से मेरा यह विचार हो गया है कि भरोसेमद लोगो को दूसरे पर भरोसा करने का तरीका अच्छी तरह मालूम रहता है। मैं एक अनजान इन्सान था और आसान व निडर तरीके से मैं व्यापारियो को चाहता तो उनके पैसे नही दे सकता था, लेकिन लंदन में किसी दूकानदार ने मुझ पर अविश्वास नही किया।

मेरे विलायत रहने के समय में कुछ हसी की घटनाएं भी हुई। उनमें से एक खास तौर से मुझे याद है। वह यह कि एक बार किसी स्वर्गीय एंग्लो इंडियन अफसर की औरत से मेरी जानकारी हुई। वह मुझे 'रवि' कह कर पुकारती थी। उसके एक हिन्दुस्तानी कवि दोस्त ने उसके मरे हुए पति की याद में अंग्रेजी में एक करुण रस से भरी कविता लिखी थी। इस कविता की कमी-वेशी या भाषा के बारे मे वतियाने की यह जगह नही है। मेरे दुर्भाग्य से कवि ने कविता पर यह लिख रखा था कि यह 'विहाग' राग में गाई जाय। एक दिन वह कविता 'विहाग राग' में गाने के लिए उसने जिद की। मैं ठहरा भोला-भाला, इसलिए उसका कहना मान लिया। इस कविता पर जबरदस्ती विहाग राग लादा गया था। यह मजाक और निंदनीय बात पहिचानने लायक वहा कोई नही था, यह भी मेरी बदकिस्मती ही थी। अपने पति की मौत पर हिन्दुस्तानी इन्सान द्वारा रचा हुआ शोक गीत हिन्दुस्तानी राग में सुनकर उस बाई का मन शौक से भर गया। मैं समझा कि चलो छुट्टी हुई, इसकी इच्छा पूरी हो गई, पर राम राम, वह यहा भी रुकने वाली बात नही थी। इसकी वार-बार कई समाजों में मुझसे भेंट हुआ करती और खाने के बाद ज्योंही मैं दीवान खाने में औरतो के समूह में जाता, त्योंही वह बाई मुझे विहाग राग गाने के लिए कहती और दूसरी औरतें भी भारतीय गाने का अच्छा मसाला सुनने की इच्छा से विनती करती। साथ ही उस शोक गीत का छपा हुआ कागज बाई के खीसे में से बाहर निकलता और मुझे आखिर में नीची गर्दन कर कापते सुर से गाना शुरू करना पडता। मुझे पूरा भरोसा है कि ऐसे स्थानो पर मेरे सिवाय उस गाने में किसी दूसरे का दिल फटने की सभावना नही थी। अंत में सब औरतें मन ही मन हसकर 'वाहवा-वाहवा' कहा करतीं। कड़ाके की ठण्ड होने पर भी मुझे इस घटना से पसीना छूटा करता था। उस बड़े अफसर का शोक गीत मेरे ऊपर ऐसा भयानक चोट करेगा, ऐसा भविष्य मेरे जन्म समय मे या उस अफसर के मौत के वक्त मे क्या कोई कर सकता था।

डॉ. स्टाक के यहा रहकर यूनिवर्सिटी कालेज मे पढने के कारण इस बाई से कुछ दिनों तक मेरा मिलाप नही हुआ। बीच-बीच मे उसके खत मुझे बुलाने के लिए

ग्राया करते थे। यह बाई लंदन के एक उपनगर में रहा करती थी, परन्तु शोक-भीत के डर की वजह से मैं उसका बुलाना मंजूर नहीं करता था। अंत में एक दिन तार से बुलावा ग्राया। मैं कालेज जा रहा था। रास्ते में ही यह तार मिला। विलायत से भी ग्रब जल्दी ही जाने वाला था, ग्रत: इस बाई से मिलना ठीक समझा, उसका विनम्र बुलावा मंजूर करने का इरादा किया।

मैं कॉलेज गया। वहाँ से काम खत्म कर घर न लौटकर उन बाई के यहां जाने के लिए सीधा स्टेशन पर चला गया। यह दिन बड़ा ही डरावना था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। चारों ग्रोर कुहरा छाया हुग्रा था। मुझे जिस स्टेशन पर जाना था, वह ग्राखिरी स्टेशन था, इसलिए मैंने वहा पहुचने के बारे में पूछताछ करने की जरूरत ही नहीं समझी।

रास्ते में सब स्टेशनों के प्लेट फार्म दाहिनी ग्रोर पड़ते थे ग्रत मैं भी ट्रेन के डिब्बे मे दाहिनी ग्रोर एक कोने में बैठकर किताब पढने लग गया। बाहर कुहरे के कारण इतना ग्रंधेरा हो गया था कि कुछ भी दिखलाई नही पडता था। एक के बाद एक मुसाफिर ग्रपने ग्रपने स्थान पर उतरने लगे। ग्राखिरी स्टेशन के एक स्टेशन पहले जब हम पहुचे, तब वहा थोड़ी देर गाडी ठहरी ग्रौर फिर चलने लगी। कुछ ही दूर जाकर गाड़ी फिर रुक गई, लेकिन ग्रास-पास कोई भी दिखलाई नही पड़ा। न दिया ग्रौर न प्लेट फार्म। कभी-कभी बेमौके गाड़ी ठहर जाने के कारण पूछने का भी मुसाफिरो को उपाय नहीं रहता, इसलिए कोशिश भी नही करते। ग्रत: मैं फिर ग्रपने पढने में लग गया। देखता हू तो गाडी पीछे जा रही है। रेलवे वालों के ग्रचम्भे भरे बर्ताव के लिए कोई भी जवाबदार नही होता, यह समझकर मैं फिर पढने लगा। ग्रब हम एक स्टेशन पीछे लौट ग्राए। ग्रब मुझे ग्रपनी उदासीनता छोडनी पड़ी ग्रौर पूछना पड़ा कि ग्रमुक स्टेशन को हमारी गाड़ी कब पहुंचेगी। जवाब मिला कि यह गाड़ी वही से लौटकर ग्रा रही है। फिर पूछा कि ग्रब यह गाडी कहा जा रही है? जवाब मिला लदन को। ग्रच्छा ग्रब ग्रमुक स्टेशन की गाड़ी फिर कब मिलेगी? जवाब मिला—रात भर गाड़ी नही मिलेगी। पूछ-ताछ से यह मालूम हुग्रा कि पाच मील के घेरे मे ठहरने व खाने-पीने की जगह नहीं है। मैं सुबह दस बजे खा-पीकर घर से चला था। उसके बाद पानी तक नही पिया था। जब खाने पीने का कोई साधन न हो तब सन्यासी बनने मे इन्सान को देर नहीं लगती। ग्रोवर कोट के बटन लगाकर प्लेट फार्म के एक लालटेन के नीचे बैठ गया। मेरे पास हाल ही मे छपी 'स्पेंसर के नीति सिद्धान्त' नाम की किताब थी। ऐसे विषय पर मन को एकात का मौका इसके बढकर दूसरा नही मिलेगा, यह सोचकर मैंने उस किताब को पढना शुरू कर दिया।

कुछ समय बाद एक मजदूर मेरे पास ग्राया ग्रौर उसने कहा कि कुछ समय

बाद एक स्पेशल ट्रेन यहां से जाने वाली है । यह आधे घंटे बाद आयेगी । यह सुनकर मुझे इतनी खुशी हुई कि मैं किताब आगे न पढ़ सका । जहां मैं सात बजे पहुंचने वाला था, वहां नौ बजे पहुंचा । बाई ने पूछा रवि–तुम्हें इतनी देर क्यों हुई ? कहां ठहर गया ? मुझे अपनी हिम्मत के बारे में यद्यपि गर्व नहीं था तो भी मैंने खुले दिल से सब बातें साफ-साफ कर दीं । मेरे पहुंचने के पहले ही उन लोगों का खाना-पीना हो चुका था ।

कुछ देर बाद मुझे चाय पीने को कहा गया । मैं चाय कभी नहीं पीता था, लेकिन भूख से इस समय बेचैन हो रहा था, अतः दो बिस्किट और तेज चाय का एक प्याला किसी तरह गले के नीचे उतारा । फिर मुझे दीवान खाने में ले गये । वहां अनेक अधेड़ उम्र की औरतें थीं । एक अमेरिकन जवान लड़की भी थी । मेरी जानकार बाई के भांजे से इसकी शादी होने वाली थी । अतः विवाह के पहिले के प्रेम में वह डूबी हुई थी । बाई ने कहा-आओ नाचें । यह स्वागत करने लायक मेरा मन न था और न शरीर ही नाचने की स्थिति में था । परन्तु कहा जाता है कि दुर्लभ स्वभाव वाले आदमियों के हाथ से अनहोनी भी होती है । चाय और बिस्किट पर भूख का भार सौंपकर दूल्हे-दुल्हिन के विनोद के लिए मुझे अपनी उम्र से ज्यादह उम्र की औरतों के साथ नाचना पड़ा ।

मेरी आफत यहीं खत्म नहीं हुई । पावन चोटी पर मानो कलश चढ़ाने के लिए ही मुझसे पूछा गया कि रात में तू कहां रहेगा ? मैंने इस पर अभी तक विचार भी नहीं किया था । मैं चुप रह गया । एक भी शब्द न बोलकर बाई की ओर देखने लगा । तब वह कहने लगी कि यहीं पास ही में एक मुसाफिर खाना है । वह बारह बजे तक खुला रहता है । इसलिए अब देरी न करके तू वहीं चला जा । वहीं तेरे ठहरने का इन्तजाम हो जायगा ।

ग्रौर न पानी में से बाहर निकली हुई मछली की तड़फडाहट भरा मेरा नाच हुग्रा होता।

नाश्ता हो जाने पर मुझसे कहा कि 'जिस बाई को गाना सुनाने के लिए तुझे बुलाया है, वह बीमार हो गई है, इसलिए उसके कमरे के दरवाजे पर बैठकर तू उसे गाना सुना'। जीने के नीचे मुझे खड़ा कर एक बद दरवाजे की ग्रोर इशारा करके कहा गया कि उस कमरे मे बाई पड़ी हुई है। मैंने उस ग्रजान की ग्रोर मुंह करके वही विहाग राग गया। मेरे इस गाने का रोगी पर क्या ग्रसर हुग्रा, इसकी खबर मुझे ग्रभी तक नही मिली।

मुझे ग्रपनी इस कमजोरी भरी सज्जनता के प्रायश्चित में लदन ग्राकर बीमार पड़ना पड़ा। मैंने डॉ स्काट की लड़कियों से इस मेहमानदारी का सारा हाल सुनाया। तब उन्होने कहा कि पूरी तरह विचारने के बाद तुम्हें यह मालूम होगा कि ग्रंग्रेजी मेहमानदारी का यह नमूना नही है, लेकिन हिन्दुस्तान के ग्रनाज का यह नतीजा है।

☐

बाद एक स्पेशल ट्रेन यहां से जाने वाली है। यह आधे घंटे बाद आयेगी। यह सुनकर मुझे इतनी खुशी हुई कि मैं किताब आगे न पढ़ सका। जहां मैं सात बजे पहुंचने वाला था, वहां नौ बजे पहुंचा। बाई ने पूछा रवि–तुम्हें इतनी देर क्यों हुई? कहां ठहर गया? मुझे अपनी हिम्मत के बारे में यद्यपि गर्व नहीं था तो भी मैंने खुले दिल से सब बातें साफ-साफ कर दीं। मेरे पहुंचने के पहले ही उन लोगों का खाना-पीना हो चुका था।

कुछ देर बाद मुझे चाय पीने को कहा गया। मैं चाय कभी नही पीता था, लेकिन भूख से इस समय बेचैन हो रहा था, अतः दो बिस्किट और तेज चाय का एक प्याला किसी तरह गले के नीचे उतारा। फिर मुझे दीवान खाने में ले गये। वहां अनेक अधेड़ उम्र की औरतें थी। एक अमेरिकन जवान लडकी भी थी। मेरी जानकार बाई के भाजे से इसकी शादी होने वाली थी। अतः विवाह के पहिले के प्रेम मे वह डूबी हुई थी। बाई ने कहा-आओ नाचें। यह कसरत करने लायक मेरा मन न था और न शरीर ही नाचने की स्थिति मे था। परन्तु कहा जाता है कि दुर्लभ स्वभाव वाले आदमियों के हाथ से अनहोनी भी होती है। चाय और बिस्किट पर भूख का भार सौंपकर दूल्हे-दुल्हिन के विनोद के लिए मुझे अपनी उम्र से ज्यादह उम्र की औरतों के साथ नाचना पड़ा।

मेरी आफत यही खत्म नही हुई। आफत चोटी पर मानो कलश चढाने के लिए ही मुझसे पूछा गया कि रात में तू कहाँ रहेगा? मैंने इस पर अभी तक विचार भी नही किया था। मैं सुन्न रह गया। एक भी शब्द न बोलकर बाई की ओर देखने लगा। तब वह कहने लगी कि यहां पास ही में एक मुसाफिर खाना है। वह बारह बजे तक खुला रहता है। इसलिए अब देरी न करके तू वहां चला जा। वहां तेरे ठहरने का इन्तजाम हो जायगा।

मुझे भख मारकर जाने के लिए तैयार होना पडा अन्यथा रात कहाँ निकालता? बाई ने इतनी दया की कि एक नौकर लालटेन देकर मंजिल बतलाने को मेरे साथ भेज दिया। पहले पहल तो मुझे यही मालूम हुआ कि मुसाफिर खाने मे भेजकर मुझ पर बड़ी दया की गई। पहुचते ही मैंने खाने-पीने के बारे मे पूछा। मैंनेजर ने जवाब दिया कि "कोई चीज तैयार नही है।" हां पेय पदार्थ है। सोने के लिए जगह बतला दी गई। इस जगह की पथरीली फर्श ठंड दार थी। वहां मुंह धोने को एक टूटी फूटी तश्तरी और पुराना पलंग पड़ा हुआ था।

सुबह होते ही बाई ने मुझे नाश्ते के लिए बुलाया। इस नाश्ते की बात कुछ न पूछिये। सारी चीजें बासी थी। रात का बचा खुचा सामान था। अगर इन्ही में से कल रात को मुझे कुछ सामान दिया होता तो किसी को कुछ नुकसान नही होता

ग्रौर न पानी मे से बाहर निकली हुई मछली की तड़फडाहट भरा मेरा नाच हुग्रा होता ।

नाश्ता हो जाने पर मुझसे कहा कि 'जिस बाई को गाना सुनाने के लिए तुझे बुलाया है, वह बीमार हो गई है, इसलिए उसके कमरे के दरवाजे पर बैठकर तू उसे गाना सुना' । जीने के नीचे मुझे खड़ा कर एक बद दरवाजे की ग्रोर इशारा करके कहा गया कि उस कमरे मे बाई पड़ी हुई है । मैंने उस ग्रजान की ग्रोर मुंह करके वही विहाग राग गया । मेरे इस गाने का रोगी पर क्या ग्रसर हुग्रा, इसकी खबर मुझे ग्रभी तक नही मिली ।

मुझे ग्रपनी इस कमजोरी भरी सज्जनता के प्रायश्चित मे लदन ग्राकर बीमार पड़ना पड़ा । मैंने डॉ स्काट की लड़कियों से इस मेहमानदारी का सारा हाल सुनाया । तब उन्होंने कहा कि पूरी तरह विचारने के बाद तुम्हें यह मालूम होगा कि ग्रग्रेजी मेहमानदारी का यह नमूना नही है, लेकिन हिन्दुस्तान के ग्रनाज का यह नतीजा है ।

□

लोकन पालित

यूनिवर्सिटी कालेज के अंग्रेजी साहित्य के बारे मे व्याख्यानो में मैं जाया करता था। उस वक्त 'लोकन-पालित' मेरे साथ पढने वाला था। यह मुझसे चार साल छोटा भी था। आज जिस उम्र में मैं यह 'आत्म-कथा' लिख रहा हू, उसमें चार साल का फर्क कुछ ज्यादह नही है। लेकिन 17 और 13 का फर्क उस उम्र मे दोस्ती के लिए बहुत ज्यादह माना जाता है। उस उम्र मे गहरी विचार-धारा नही रहती है। इसीलिए लडके अपने वडप्पन का बहुत ज्यादह खयाल रखते है, लेकिन हम दोनो में यह बात नही थी। वडप्पन के कारण हमारे आपस में कभी दुजागरी नही हुई। पालित मुझे अपने से किसी भी बात मे छोटा मालूम नही होता था।

कालेज की लायब्रेरी मे छात्र और छात्राए पढने के लिए एक साथ वैठा करते थे। मन ही मन बोलने की यह जगह थी। हम अगर मन ही मन धीरे-धीरे बातें करते तो किसी को कुछ बोलने की जगह नही रहती, लेकिन मेरा दोस्त पालित जोश से इतना भर जाता कि थोड़ी ही छेडछाड से उसकी हंसी और उत्साह बाहर निकल पड़ता था। सारे देशो मे अभ्यास की ओर लडकियो का लक्ष्य एक अलग ही तरीके का होता है। अभ्यास करने मे वे जरा हठीली हुआ करती हैं। हममे इस तरह आजादी के साथ हसी-मजाक होती तब उन लड़कियो की नापसदगी दिखलाने वाली फटकार भरी आँखें हम पर पडती। आज उस बात का खयाल आने पर मुझे पश्चाताप होता है लेकिन उस वक्त किसी के अभ्यास मे बाधा पड़ने पर मुझे बिल्कुल सहानुभूति नही होती थी। मेरे अभ्यास में विघ्न पडने पर भगवान की दया से मुझे कभी तकलीफ नही हुई और न मन को कभी कोई चिन्ता ही हुई।

हमारी हसी-मजाक का क्रम हमेशा ही चलता रहता था। कभी-कभी उसी में साहित्य के बारे मे वाद-विवाद भी हम करते थे। मेरे बनिस्पत लोकन पालित का बगला साहित्य का अधिकार कम था, तो भी वह उस कमी को अपनी तीखी बुद्धि से पूरी कर देता था। हमारे उलझे विषयो मे बंगला को सही लिखना भी एक विषय था। यह विवाद शुरू होने का कारण यह हुआ कि डा० स्काट की एक लडकी ने बगला लिखने के लिए मुझसे कहा। बंगला अक्षरमाला सिखाते हुए बडे गर्व के साथ मैंने उससे कहा कि बङ्गाली भाषा कदम-कदम पर अपने निश्चित नियमो का टूटना कभी सह नही सकती। यदि इम्तिहान के लिए घोक-घोक कर हम लोगों को याद न

करना पड़ता तो अंग्रेजी शब्दमाला की रचना की आजादी किस हंसी की दशा को पहुंचाती, यह नही कहा जा सकता। लेकिन मेरा यह गर्व ठहर नही सका, क्योंकि मुझे अंग्रेजी के बराबर बंगाली शब्द रचना भी स्वतन्त्र होने के लिए बेचैन दिखलाई पड़ी। बंगाली शब्द-रचना के निश्चित कायदों का टूटना अभ्यास के कारण मेरे ध्यान में अब तक नहीं आया था।

अब मैं बंगाली शब्द-रचना के बेकायदेपन मे से कायदे खोजने का प्रयत्न करने लगा। इस काम में लोकन पालित की जो आशा से बढ़कर सहायता मुझे मिली, उसका मुझे बहुत अचरज हुआ। विलायत में रहते हुए यूनिवर्सिटी कालेज की लाइब्रेरी में होने वाली हसी-मजाक की खलबलाहट में जिस काम का जन्म हुआ, उसी का भारत के मुल्की खाते कर्मचारी होकर लोकन पालित के आने पर विस्तार से प्रवाह बहने लगा। लोकन का जोश से भरा हुआ साहित्यिक आनन्द, साहित्य के बारे में मेरे हिम्मत रूपी वायुयान को चाल देने वाला वायु ही था। ऐन जवानी मे मैंने अपने गद्य और पद्य की गाड़ी पूरे वेग से छोड दी और लोकन की अवास्तविक प्रशंसा ने मेरे इस जोश को कायम भी रखा। पल भर के लिए भी वह धीमा नही पड़ा। जहां लोकन होता वहाँ जाकर और उस बगले मे रहकर गद्य-पद्य की कई कल्पना से ऊंची उड़ानें मैंने भरी हैं। कई दफा शुक्र-तारे की चांदनी डूबने तक हम लोग साहित्य और सगीत शास्त्र की चर्चा करते रहते थे।

सरस्वती के पावो में रहे हुए कमल के फूलों मे दोस्ती का फूल शायद उसे ज्यादह पसंद होना चाहिए। कमल के फूलों से भरे हुए सरस्वती के किनारे पर मुझे मोल-केशर ज्यादह नही मिली, लेकिन प्यार भरी दोस्ती के मीठे सुवास की विपुलता के बारे मे मुझे कभी कोई शिकायत नही रही।

□

भग्न हृदय

विलायत में ही मैंने एक दूसरा काव्य लिखना शुरू कर दिया था। विलायत से लौटते हुए रास्ते में भी लिखता रहा। हिन्दुस्तान में आने पर यह काव्य पूरा हुआ। छपते समय मैंने इस काव्य का नाम 'भग्न हृदय' रखा। लिखते समय मुझे लगा कि यह रचना अच्छी हुई है और लेखक को अपनी रचना अच्छी लगे तो इसमे अचम्भा नहीं है। यह काव्य मुझे ही अच्छा नही लगा, बल्कि पढ़ने वालो ने भी इसकी सराहना की। इसके छपने पर टिपरा के स्वर्गीय राजा के दीवान खुद मेरे पास आये और मुझसे कहा कि राजा साहब ने कहलवाया है कि उन्हें आपका यह काव्य बहुत पसद आया है। उन्होंने कहा कि इसकी जितनी भी सराहना की जाय, थोड़ी है और भविष्य मे लेखक बहुत नाम कमायेगा, ऐसा उन्हे भरोसा है। यह बात आज भी मुझे ज्यो की त्यों याद है।

यह काव्य मैंने अपने अठारवें साल में लिखा था। आगे जाकर अपनी उम्र के तीसवे साल में इसी काव्य के बारे मे मैंने एक पत्र में जो कुछ लिखा, उसे यहा लिखना मुझे ठीक लगता है—

"जब मैंने 'भग्न हृदय' नाम का काव्य लिखना शुरू किया, उस समय मैं 18 साल का था। यह उम्र न तो बचपन ही मानी जाती है और न जवानी ही। यह इन दोनो अवस्थाओ के जोड़ की है। यह उम्र सच ही प्रत्यक्ष किरणो से जगी नही रहती। इस उम्र मे सचाई सामने न दिखलाई देकर कही किसी जगह उसका प्रतिबिम्ब दिखलाई पडता है और बाकी जगह पर केवल धुंधली छाया भर दिखती है। जोड़ के समय की छाया की तरह इस उम्र में खयालात दूर तक फैले हुए, धुधले और असली ससार को खयाली ससार की तरह दिखलाने वाले रहते है।"

खास अचम्भे की बात यह है कि उस समय मैं ही केवल अठारह साल का नही था, लेकिन मुझे अपने आस-पास के हरेक आदमी 18 साल के लगते थे। हम सब एक ही बेसहारा, अपनेपन से अलग एव खयाली दुनिया मे इधर-उधर भटक रहे थे, जहा कि ज्यादह सुख और दुःख दोनो ही सपने के सुख और दुःख की बनिस्पत अलग नही मालूम होते। दोनो की तुलना करने का सामने कोई उपाय नहीं था। इससे बड़ी बात की जरूरत छोटी बात से पूरी की जाती थी।

मेरी पन्द्रह सोलह साल की उम्र से लेकर बाईस-तेईस साल तक उम्र का समय केवल अस्त-व्यस्त तरीके से ही बीता। जमीन की शुरूआत मे पानी और जमीन

एक-दूसरे से पूरी तरह जुदा नहीं हुए थे। उस समय बालू रेत के दल-दल वाले जंगलों में कोचर रहित पेड़ों में बड़े-बड़े जलजीव और जमीन के जीव इधर-उधर विचरते थे। इसी तरह आत्मा के बचपन के सबूत रहित अनोखे तरह के ठीक मनोविकार, बताये जीवों की तरह आत्मा के पगडंडी रहित जंगल में दूर फैली हुई छाया में भटकते रहते हैं। इन मन के विकारों को न तो अपने आपकी जानकारी रहती है और न अपने भटकने के कारणों की ही। वे केवल अनजानेपन या भोलेपन में भटकते रहते हैं। अपने खुद के कामों की जानकारी न होने से अपने को छोड़कर दूसरी बातों का पीछा करने की उनकी आसान प्रवृत्ति होती है। इस अर्थ रहित मंजिल और क्रियाशील उम्र में अपनी मंजिल से अनजान होने के कारण उसे पाने में नाकामयाब हुई मेरी अधूरी ताकतें बाहर आने के लिए एक-दूसरे से होड़ करती थीं। इस उम्र में हरेक ताकत ने बहुत ज्यादह कहने के बल पर अपना हक मुझ पर जमाने की जोर शोर से कोशिश की।

दूध के दांत निकलते समय बच्चे को बुखार आया करता है। दांतों के बाहर निकल कर पचाने के काम में सहायता देने वाली पीड़ा को कोई अच्छा नहीं कह सकता। इसी तरह इस उम्र के मनोविकार बाहरी दुनिया से अपने असली सम्बन्ध की जानकारी होने तक मन को तकलीफ दिया करते हैं। इस उम्र में मैंने अपने अनुभव से जो बातें सीखीं, वे यद्यपि नीति की किताबों में भी मिल सकती हैं, लेकिन इससे उनकी कीमत कम नहीं हो सकती। अपनी इच्छाओं को अन्दर ही अन्दर बंदकर बाहरी दुनिया से उन्हें आजादी के साथ विचरण न करने देने वाली बातें हमारी जिन्दगी में जहर फैलाती हैं। इनमें से मतलबी बुद्धि भी एक है। यह हमारी मंशाओं को मन के मुताबिक चलने नहीं देती, न उन्हें अपने असली मंजिल के नजदीक जाने देती है। इसलिए मतलब रूपी मिलावा फूट निकलता है और उससे झूंठ, अवास्तविकता और सब तरह के जुल्म रूपी घाव हो जाते है। इसके खिलाफ जब हमारी इच्छाओं को अच्छे काम करने की बेहद आजादी मिलती है, तब वे विकार को दूर कर अपनी असलियत पा लेती है और यही उनकी जिन्दगी की मंजिल होने की असली आनन्ददायी हालत होती है।

मेरे कच्चे मन के ऊपर कहे हुए हालात का उस समय के नमूनों व अच्छी बातों ने पोषण किया और आज भी उसका नतीजा मौजूद है। मैं जिस वक्त के बारे में लिख रहा हूं, उस पर नजर डालने से मुझे यह बात ठीक लगती है कि अंग्रेजी साहित्य ने हमारी प्रतिभा को पुष्ट न कर उसे जगाया है। उन दिनों सेक्सपियर, मिल्टन और बायरन ये हमारे साहित्य के देवता बन रहे थे। हमारे मन को हिला देने वाला यदि इनमे कोई गुण था तो वह मन के विकारों का ज्यादहपन था। अंग्रेजी के समाज के बर्ताव में मन के विकारों की लगाम खींचकर रखते हैं। मन के विकार

चाहे कितने भी ताकतवर हों पर उनका बाहरी प्रकट न होने देने की ओर पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता है। शायद इसीलिए अंग्रेजी साहित्य पर मन के विकारों का इतना ज्यादह असर है कि अंग्रेजी साहित्य का यह एक गुण ही बन गया है कि उसमें से अगिन चमकती मन की भावनाएं जरूरी होकर भड़कती और उनमें से भयानक लपटें निकलने लगती हैं। मन के भावों की यह डरावनी घुटन ही अंग्रेजी साहित्य की आत्मा है। कम से कम हमारा तो यही सोचना था और इसी निगाह से हम इस साहित्य की ओर देखना सीखे थे।

अक्षय चौधरी ने ही हमारे लिए साहित्य का दरवाजा खोला था। उनके अंग्रेजी के जोशीले और रसीले वर्णन में एक तरह का जादू था। उसमें बेहोश करने की ताकत थी। रोमियो और जूलियट का रोमांस, लियर राजा का शोक, अंग्रेजी की सारी दुनिया को समा लेने वाली ईर्ष्या की आग, आदि बातें हमें अंग्रेजी साहित्य की मनमानी बड़ाई करने के लिए तैयार करती थी। हमारा समाज के बारे में जीवन का ढंग और उसका सिकुड़ा हुआ काम का क्षेत्र पक्की रहने वाली रस-हीनता के परकोटे से इस तरह घिरा रहता है कि उसमे चमकता मनोविकार का होना हो ही नही सकता। जहाँ-तहाँ ठंडक का खयालों से ज्यादह राज फैला हुआ रहता है। इसीलिए हमारा हृदय अंग्रेजी साहित्य को विकार भरे भावनाओं की चमक पाने के लिए तड़फडा रहा था। अंग्रेजी साहित्य का यह जादू हम पर साहित्यकला की सुन्दरता का मनचाहा सेवन करने की वजह नही पड़ा था, लेकिन हमारे मायूस मन को कुछ न कुछ भोजन चाहिए, इसलिए हम उस जादू में भूले हुए थे। जिन दिनों इन्सान को डाट-डपट कर दबाये रखने के खिलाफ जोर से चोट करने वाली विद्या और कला को फिर से जिन्दा करने का दौर यूरोप में शुरू हुआ, उन दिनों के युद्धनाच का निशान शेक्सपियर के समय का अंग्रेजी साहित्य है। उन दिनों अपनी जिन्दगी की भीतरी पवित्रता को पाने मे बाधक होने वाले शास्त्रों को फाड़ फैंकने की चिन्ता मे इन्सान अपनी तेज इच्छाओं की आखिरी मूर्ति ढूंढने के विचारो मे डूबा हुआ था। इसलिए भला-बुरा और खूबसूरत बदसूरत को पहचानने का उसका कारण खत्म हो गया था। यही कारण है, जो उस समय के अंग्रेजी साहित्य के अमर्यादित विचारों की रेल-पेल दिखलाई देती है।

यूरोप की इस तरह की दोषभरी धूमधाम ने हमारे बंधे हुए सामाजिक रिवाजों में प्रवेश कर हमे जगाया और नयी जिन्दगी दी। इस वजह से चले आ रहे रीति रिवाज के नीचे दबे हुए लेकिन अपने आपको प्रकट करने की संधि ढूंढने के लिए बेचैन हमारे मन पर आजाद जिन्दगी का उजाला पड़ा और उससे हमारी आंखे चौंधिया गईं।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में इस तरह का और एक दिन आया था। उस वक्त पोप कवि की गहरी और सही रचना शैली पिछड़ गई और उसकी जगह पर फ्रेंच राज्य क्रांति करने वालों के नाच के समान श्रृंखलाविहीन और मतवाली रचना शुरू हुई। ऐसी रचना का खास जन्म देने वाला बायरन था। इसके काव्यो की उठती हुई विकार की दशा से, घूंघट डालकर बैठी हुई हमारे मन रूपी दुलहिन का मन भी खलबला उठा था।

इस तरह हाथ धोकर अंग्रेजी साहित्य के पीछे पड़ने से जो खलबली मची, उसने उन दिनो के जवानों के मन पर अपना असर जमा लिया। मेरे पर तो उसकी चोट चारों ओर से हो रही थी। इन्सान सोयी हुई अवस्था से जागने की अवस्था में पहले-पहल आता है, तब जोश की बाढ़ इसी तरह आया करती है। यही आम दशा है। जोश रूपी जल का सूख जाना आसान अवस्था नही कही जा सकती।

इतने पर भी हमारे हालात यूरोप के हालात से बिलकुल जुदा थे। वहां गुलामी के ज्ञान से पैदा हुआ दुःख और उससे छुटकारा होने की अधीरता को इतिहास में जगह मिल चुकी थी। उस पर से वहा के साहित्य मे भी ये बातें झलकती थी और साहित्य की इस आवाज का मन के भावो से नाता जुड़ चुका था। तूफान आया था, इसीलिए उसकी गड़गड़ाहट सुनाई दे रही थी। इस तूफान के एक हल्के से धक्के ने हमारी दुनियाँ भी बेचैन कर डाली थी। इस धक्के मे भी यही आवाज थी, परन्तु इतनी बारीक थी कि उससे हमारा संतोष नही होता था। अतः हम तूफान के बड़े झोकों का पीछा करने लगे। हमारी इन कोशिशों का समापन सहज या अधिक कहने मे हो गया। हमारे मन का यह रुख आज भी हमे खीचे बैठा है और इससे छुटकारा पाना कोई आसान बात नही है।

चोटी तक पहुंची हुई कला मे जो भोलापन दिखलाई पडता है, वह अंग्रेजी साहित्य मे अभी तक नही आई। अंग्रेजी साहित्य की यह कमी हमारे कहे विधान के गवाह में पेश की जा सकती है। साहित्य की साधन की वस्तुएं अनेक तरह की हुआ करती है। उनमें इन्सानियत की भावना भी एक साधन है, वह आखरी मंजिल नही, लेकिन अंग्रेजी साहित्य को अभी तक यह विचार पूरी तरह मजूर नही है।

बचपन से बुढापे तक हमारा मन अंग्रेजी साहित्य के रंग-ढंग के साथ बढ़ता रहता है। अंग्रेजी साहित्य का ही खाद और उसी का पानी। जिन यूरोपीय भाषाओं की ओर देखने पर हम कह सकते हैं कि वे ज्यादह विकसित हैं, उन्हें लेटिन, ग्रीक आदि पुरानी और फ्रेंच आदि नयी भाषाओं को हम नही पढते। इस पर से मेरा तो यह विचार है कि साहित्य की असलो मंजिल और उसके काबिल काम के तरीके के बारे मे जरूरी ज्ञान पाने की अभी काबिलियत भी हममें नही आ पायी है।

हमारे मन के अंग्रेजी साहित्य की इच्छा और उसके पढने-पढाने की लालसा

पैदा करने वाले अक्षय बाबू खुद विकार भरी जिन्दगी के भक्त थे। मन की भावना पैदा होने की बजाय उस भावना को सच्चाई के सामने आना, वे खासियत नही समझते थे। यही वजह थी, जो धर्म के बारे मे तो उनमें बुद्धिपूर्ण आदर नही था लेकिन श्यामा (काली मा) के पद सुनने से उनकी आँखों में आसू भर आते थे। फिर चाहे काली मा का सच-रूप किसी भी तरह का क्यो न हो। बात यह थी कि जो-जो बातें उनके मन को बिगाड़ सकती थी, वे बातें उन्हे उतने वक्त के लिए सही लगती थी। सामने दिखलाई पड़ने वाली भूलों का भी उन पर कोई असर नही होता था।

उस समय के अंग्रेजी गद्य साहित्य का 'नास्तिकता' एक खास नारा था। बेंथम, मिल, कोम्टे यह उस वक्त के मशहूर और आदर के काबिल लेखक थे। हमारे जवानों की सब दारमदार इन्ही के खयालों पर टिकी हुई थी। अक्सर उन्ही के कथन लेकर हमारे जवान तर्क किया करते थे। तत्व को जानने वाले 'मिल' का जमाना अंग्रेजी साहित्य का एक आजाद 'काल विमान' है। यह सरकारी शैली की उलटी क्रिया का समय था। सालों से जमा, गये बीते खयालों को निकाल कर फेंकने के लिए मिल, बेंथम, कोम्टे वगैरह साहित्यकार पैदा हुए थे। उनकी किताबों में विनाश की ताकत का बोलबाला था। हमने अपने देश मे इस विनाश की ताकत को किताबी जानकारी की तरह तो इस्तेमाल कर लिया लेकिन व्यवहार में हमने उसके इस्तेमाल की कोई कोशिश नही की। अपने नीति तत्वों के भारी जुए को नीचे डाल देने का जोश पैदा करने के ही लिए हम जोश दिलाने वाली दवाओ की तरह उनका इस्तेमाल कर लिया करते थे। इसलिए पागलपन पैदा करने के काम में इन नास्तिक विचारों का इस्तेमाल हुआ।

इन कारणों से उस समय के पढ़े-लिखे लोगों के अक्सर दो हिस्से हो गये थे। एक दल तो ऐसा था जो ईश्वर की श्रद्धा को जड़ से उखाड फेंकना चाहता था और हमेशा तर्क के लिए बैठा रहता था। इसकी दशा शिकारियो सी थी। जिस तरह पेड़ के ऊपर या नीचे शिकार देखते ही शिकारी के हाथो में खुजली चलने लगती है, उसी तरह ईश्वर का भरोसा रखने वाले इंसान को देखते ही वे अपनी आस्तीन ऊपर चढाने लगते थे। वे इस तरह के झूठे भरोसे को खत्म कर देना अपना काम मानते थे और इसलिए ऐसे मौकों पर हमारे इन बहादुरों में ज्यादह ताजगी आ जाया करती थी। वे तर्क करने के लिए मौका ही तलाशते रहते थे। कुछ दिनों तक हमारे यहां भी घर पर पढ़ाने के लिए ऐसे ही एक मास्टरजी आया करते थे। उन्हें भी जिरह करना ज्यादह अच्छा लगता था। उन दिनों मैं बच्चा ही था तो भी उनके चंगुल से नही छूट सका। वे कोई बड़े पंडित थे या बड़े जोश और उपायो से कुछ सालों के अनुभव और मेहनत से उन्होंने ईश्वर के न होने पर भरोसा किया हो, सो

कुछ नहीं था बल्कि वे सिर्फ दूसरे लोगों के विचार को दुहराते रहते थे। हम दोनों की उम्र में बहुत फर्क होने के कारण हम दोनो बराबर के जोड़ वाले नही थे, तो भी मै अपनी पूरी ताकत इकट्ठी कर उन पर हमला किया करता था, लेकिन आखिर में मुझे ही हारना पड़ता था। इसमें मेरी जो बेइज्जती होती, उसका मुझे बहुत दुःख होता और कभी-कभी तो मैं रोने तक लगता था।

पढे लिखे लोगो का दूसरा दल भी ईश्वर के होने को मानने वाला तो नही था, पर धर्म की बातों में मजा मानने वाला और चैन करने वाला था। वे लोग एक जगह पर इकट्ठे होकर धर्म के कायदों के बहाने सुख कारक देखने योग्य चीजें, कान को अच्छी लगने वाली आवाज और इत्र आदि की महक वगैरह बातो में डूबे रहते थे। पूजा की भरपूर चीजें ये लोग इकट्ठी किया करते और उसी को सब कुछ समझकर उसी मे लगे रहते थे। इन दोनो तरह के लोगो को ईश्वर के होने में जो शक था, वह मेहनत से तत्व खोजने के बाद पैदा नही हुआ था, बल्कि वह दूसरों के विचारो का अनुवाद मात्र था।

धर्म की परम्पराओं की इस तरह बेइज्जती होती देखकर मैं मन में कुढा करता था, लेकिन इस पर से मैं यह नही कह सकता कि उन बातो का मुझ पर कोई असर नही हुआ। जवानी के साथ-साथ दिमागी पागलपन और उसी के साथ परम्पराओ को तोड़ने की प्रेरणा भी मेरे मन मे पैदा हुई। हमारे घर में जो पूजा हुआ करती थी उससे मेरा कुछ भी नाता नहीं रहता था। मेने अपने लिए उन्हे मंजूर नहीं किया था। मैं अपने मन की विकार रूपी भट्टी से एक ऊँची लपट पैदा करने में लगा रहता था। इसी लपट को बढाने के लिए आहूति देने के सिवाय मेरी कोई मजिल नही थी और मेरी मेहनत के आगे कोई निर्धारित मंजिल न होने के कारण उन मेहनतों की कोई हद भी तय नही थी। यह एक कायदा ही है कि तय की हुई हद को हमेशा उलांघा जाता है।

धर्म की जो दशा थी वही मेरे मन की भावना भी थी। जिस तरह धर्म के होने या न होने की इमारत के लिए मुझे सत्य के पाये की जरूरत नही मालूम देती थी, उसी तरह मन के व्यापार के लिए भी सचाई के तत्वो के सहारे की जरूरत मुझे मालूम नही होती थी। भावनाओ का कुढना या भड़कना ही एक मात्र मेरी मजिल थी।

असल मे देखा जाय तो दिल को इस तरह बेचैन होने की कोई वजह नही है और न कोई बेचैन होने के लिए उस पर जबरदस्ती ही करता है। यद्यपि यह ठीक है कि कोई जान-बूझकर अपने आपको दुःखी बनाना नही चाहता, लेकिन दु.ख की तीव्रता को कम कर देने से वह भी अच्छी मालूम देने लगती है। हमारे

कवि, ईश्वर की जिस पूजा में डूब गये थे, उसमें उन्होंने ईश्वर को एक ग्रोर रख कर दुःख में रहे हुए स्वाद को ही महत्त्व दे दिया है ग्रौर ग्रभी तक हमारा देश इस दशा से छुटकारा नहीं पा सका है। नतीजा यह होता है कि जब हमें धर्म के तत्वों को ढूंढने में कामयाबी नहीं मिलती, तब हम धर्म के बारे मे ग्राचार ग्रौर विचारों पर ही भूले रहते हैं ग्रौर उसी से ग्रपनी प्यास बुझा लेते हैं। मातृभूमि की सेवा भी हमारी धर्म पर रही श्रद्धा के बराबर है। हमारे देश के गर्व के बारे में कई कामों को मातृभूमि की सेवा का रूप नहीं दिया जा सकता है। वे तो हमारे मन की चाह को पूरा करने के लिए ग्रपने ग्रापको जोड़ने की एक क्रिया भर है।

यूरोपियन संगीत

जब मैं 'ब्रायटन' मे था, तब एक दफा किसी संगीत नाटक में स्त्री पात्र का गीत सुनने गया था। इस औरत का नाम मुझे अच्छी तरह याद नही है। शायद उसका नाम मेडम वेल्सन या अल्वनी था। इससे पहिले अपनी आवाज पर इस तरह का अधिकार मैंने किसी मे नही देखा था। हमारे यहां के अच्छे से अच्छे गवैये भी अपने सुर के परिश्रम को प्रकट होने से रोकने मे नाकामयाब होते है। उन्हे देखकर कोई यह नही कह सकता कि सुर बिना श्रम के सहज तरीके से लिया जा रहा है। वे कायदे के विपरीत बिना कठिनाई के ऊंचा-नीचा सुर निकाला करते हैं और जानकार लोगों को भी उसमे कोई नुकसान मालूम नही होता, क्योंकि हमारे यहां यह सोचना है कि ठीक-ठीक राग-रागिनी मे बैठाई हुई चीज यदि उस राग-रागिनी मे गाई जाय तो आवाज के उतार-चढाव या हाव-भाव की कमी-बेशी का ऐसा खास महत्व नही है। बल्कि कभी-कभी तो यह विचार भी होता है कि ऐसी तुच्छ कमियों के कारण तो उस गायन की भीतरी रचना अधिक उजागर हो जाती है। शायद इसी कायदे के अनुसार वैराग्य के राजा महादेव के मन की महिमा नग्न रहने के कारण ज्यादह उजागर हुई है।

लेकिन योरोप मे यह बात नही है। वहां तो बाहरी ठाठ-बाट मे जरा भी कमी नही दिखलाई पड़ने देने की धारा है। तुच्छ से तुच्छ भूल पर भी वहा माफ कर देने की परम्परा नही है। जरा चूके कि सुनने वालों ने दिल्लगी उड़ाई। उस समय गाने वाले पर जो हवाइयां उड़ने लगती हैं, वे देखने लायक होती हैं। हमारे यहा गाने की मजलिश में तंबूरे या सारंगी के तार ठीक करने, तबला या पखावज को हथोडी से ठोकने-पीटने आदि में यदि घंटा-आध घंटा ले लिया जाय तो उसमें किसी को कुछ भी ऐतराज नही होता, लेकिन योरोप में यह सब बातें पहले ही ठीक-ठाक कर ली जाती हैं। देखने वालों के आगे यह बातें नही होती। पर्दे के भीतर सब हो जाना चाहिए। देखने वालों के आगे तो जो कुछ भी किया जाय सब सही होना चाहिए, ऐसा वहां का चलन है। हमारे देश में राग ताल आदि सभाल कर ठीक-ठीक गाना ही खास बात मानी जाती है, लेकिन योरोप में दारो-मदार आवाज के ऊपर है। वहां आवाज को कमाया जाता है। इसलिए कभी-कभी वे अनहुई आवाज भी निकाल सकते हैं। हमारे देश में हम गाना सुनने जाते हैं और ठीक-ठीक राग में गाना सुनकर खुश होते हैं, पर यूरोप के निवासी आवाज सुनने जाते हैं। वहां गाने को महत्व नही है, किन्तु कमाई हुई आवाज को है।

श्रायटन में भी मैंने यही देखा। गाने और मरकम में मुझे कुछ भी फर्क दिखलाई नही पड़ा। यद्यपि वहां उस गाने की मैंने बड़ाई की थी, लेकिन उसका स्वाद मुझे कुछ नही आया। कोई कोई आलाप तो मुझे पंछियों की किलकारी की तरह लगा। उस समय मैं अपनी हंसी नही रोक सकता था। मैं इसे इन्सानी आवाज का गलत इस्तेमाल समझता था। उस गायिका के बाद एक गवैये ने गाया। वह मुझे कुछ ठीक मालूम हुआ। उस गायन में मुझे 'मध्यम सप्तक' का सुर खास अच्छा लगा क्योंकि वही कुछ इन्सानी आवाज से मिलता-जुलता था।

इसके बाद ज्यों-ज्यों मैं यूरोपियन संगीत सुनने लगा, त्यों-त्यों उसका राज मुझे मालूम होने लगा। लेकिन आज भी मेरा यही सोचना है कि यूरोप का संगीत और हिन्दुस्तान का संगीत एक दूसरे से बिलकुल अलग है, और वे दोनों एक ही राह से जाकर दिल तक नही पहुंच सकते।

यूरोपियन लोगो के सांसारिक व्यवहार से उनका संगीत अकसर एकमेक हो गया है। उनके कई तरह की जिन्दगी जीने की तरह गायन के तरीके भी कई तरह के हैं, लेकिन हमारे यहां यह बात नहीं है। यदि हम चाहें जिस विषय के गाने बनाकर अपनी राग में गाने लग जायें तो उन रागों का मतलब ही खत्म हो जायेगा और वह एक हंसी मात्र रह जायेगा। इसका कारण यह है कि हमारी राग-रागनियां व्यवहार पर निर्भर हैं। रोजाना के सकारण व्यवहार उन्हें सार रहित मालूम होते हैं। इसलिए राग-रागनिया करुणा या वैराग्य जैसी कोमल भावनाओं को पैदा कर सकती हैं। उनका काम आत्मा के अप्रकट, अनजान और गहरे राज का चित्र तैयार करना है। हमारे रागो को गाते-गाते गवैये का मन इतना डूब जाता है कि उसे फिर वनवास ही सूझता है और आफत में फंसे इन्सान समझने लगते हैं कि मेरी विनती से ईश्वर रीझ गया और मुझे मिल गया है। हमारी राग-रागनियों में ऐसे भावो को ज्यादह सुभीता मिला हुआ है और उसमें से इन्ही का सुर निकलता है। हा, यदि किसी को जगह नही है तो काम-काज में फंसे दुनियादारी के इन्सान को।

मैं यह बात मंजूर नही कर सकता कि मुझे यूरोपियन संगीत के भीतरी राज की जानकारी मिल चुकी है। यद्यपि मैं उसके दिल तक तो नही जा सकता तो भी बाहरी रूप पर मे जो कुछ जानकारी हासिल कर सका, उसने मुझे एक बात मे तो लुभा ही लिया है। यूरोपियन संगीत में 'अद्भुत रस' बहुत है। जिस वजह से मैंने यहां 'अद्भुत रस' शब्द लिखा है, उसको समझाना मुश्किल है। मैं ज्यादह से ज्यादह यही कह सकता हू कि यूरोपियन गायन के अमुक-अमुक अंग है। अनेकपन, विस्तार और संसार-सागर की लहरो तथा सम्पूर्ण रूप से हिला देने वाले पूर पर फैले हुए बदलते उजाले और छाया, यह उसका एक अंग है। इसके साथ-साथ दूसरा अंग है, जो इससे बिलकुल ही अलग है। वह है–फैला हुआ आकाश, उसका नीला रंग, दूर

दिखलाई पड़ने वाले छितिज की गोल आकृति, और उसका चुपचाप दुनियाँ की असीमता की ओर इशारा। मेरे इस कहने में शक हो सकता हो, पर मैं यह कह सकता हूं कि जब-जब यूरोपियन गायन से भावनाएं चंचल हो उठती थी, तब-तब मन ही मन कहने लगता था कि—"यह संगीत अद्भुत रस भरा है, जिन्दगी की पलक को गायन में जमा रहा है।

मेरा यह मतलब नही है कि हमारे गायन मे ऐसा यत्न नही दिखलाई पड़ेगा। हमारे गायन के भी किसी भेद या उपभेद में इस तरह का यत्न थोडे बहुत अंशो में दिखलाई पड़ेगा। फर्क इतना ही है कि हमारे यहां यूरोपियन संगीत की तरह इन बातों को ज्यादह बल नहीं दिया गया है। हमारे यहा इन बातो का मिलना बहुत कम है, और जितनी मिलती हैं, उसमें कामयाबी नही मिली है। तारों के उजाले से चमचमाती रात मे और सूरज की किरणों से ललाई लिए सुबह के समय में हमारे राग गाये जाते हैं। बादलों की काली छाया मे डूबने वाले और सारा आकाश फैले हुए दुःखों का विजन वन में धवधव करके बहने वाले झरनों के चुप और मोहक करने वाले मिठास का कानों को मीठा लगने वाला आलाप उसमें से निकला करता है। □

वाल्मीकि प्रतिभा

मूर की आयरिश रागों की एक सचित्र किताब हमारे पास थी। आनन्द में बेहोश होकर अक्षय बाबू जब इन रागों को छेड़ते तो मैं कई बार उन्हें बैठा-बैठा सुना करता था। इस किताब मे कवितायें तसवीरों के साथ थी। इन तसवीरों की सहायता से मैं अपने मन ही मन जादू की तरह, पुराने आयर्लैंड का सपना देखा करता था। उस समय तक मैं इन रागों को अच्छी तरह सुन नही पाया था। किताब में जो सादगी की तसवीर थी, उसी के सहारे यह राग मैंने मन ही मन गाया था। हां मेरी तेज इच्छा जरूर थी कि आयर्लैंड की इन रागों को ठीक तौर से सुनूं, सीखूं और फिर अक्षय बाबू को भी सुनाएं। जीवन मे कुछ इच्छाएं अपनी बदकिस्मती से पूरी होती और पूरी होते ही खत्म भी हो जाती हैं। विलायत जाने पर कुछ आयरिश रागो को सुनने का मुझे मौका मिला। उन्हें मैंने सीखा भी। नतीजा यह हुआ कि मैंने जितने राग सीखे, उनसे ज्यादह सीखने की चाह नही हुई। यद्यपि यह ठीक है कि मेरे सीखे हुए राग सादे, प्यार भरे, मीठे और करुणरस से भरे थे, लेकिन मैंने अपनी सपने की दुनिया के द्वारा पुराने आयर्लैंड के किसी दीवानखाने में जो गाने सुने थे उनसे इनका मेल नही बैठ सका।

जब मैं हिन्दुस्तान लौट आया तो मैंने अपने दोस्तों को आयरिश गीत सुनाया। उसे सुनकर वे बोले–रवि की आवाज कैसी हो गई? बड़ी अनोखी और विदेशी मालूम होती है। मेरा सुर भी उन्हे बदला हुआ मालूम पड़ा।

इस तरह देशी विदेशी गानों का मुझमे बीज पैदा हुआ। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' नाम को नाटिका इसी बीज जनमने का फल था। इस नाटक मे बहुत से गाने हिन्दुस्तानी हैं, लेकिन उनमें वह रस नही है जो शुरू से हमारे भारत मे चला आ रहा है। आसमान मे ऊंचे-ऊंचे चढ़कर उड़ने वाली चीजों को इस नाटिका मे जमीन पर जबरन दौड़ाया गया है। जिसने यह नाटिका देखी होगी या गीत सुने होंगे, मुझे भरोसा है कि वह कभी उन गीतों को हिन्दुस्तानी संगीत के लिए शर्मनाक या बेमतलब के नहीं समझेगी। देशी-विदेशी गीतों की मिलावट ही इस नाटिका की खासियत है। राग-रागनियों की कड़ी का मनमाना इस्तेमाल करने के जोश ने मुझे दीवाना बना दिया था। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' के कुछ गाने पहले पहल निखालिस हिन्दुस्तानी रागों मे बनाये गये थे। इनमे कुछ गाने मेरे भाई ज्योति ने बनाये थे। कुछ गाने यूरोपियन राग में बनाये गये थे। भारत में 'तिल्लाना' राग के नाटक में

ज्यादह इस्तेमाल किया जाता है। इसलिए इस नाटिका में भी इस राग का खूब इस्तेमाल किया गया है। शराब के नशे में मस्त लुटेरों के गाने के दो पद है। इनके लिए अंग्रेजी राग ठीक समझा गया और वन देवता के शोक को बताने के लिए आयरिश राग का अच्छा इस्तेमाल हुआ।

'वाल्मीकि प्रतिभा' सिर्फ बाचकर समझने लायक नाटक नही है। बिना गाए या मंच पर बिना सुने उसके गीतों से कोई रस नही मिल सकता। यूरोपियन लोग जिसे 'ओपेरा' कहते है, वह यह नही है। यह तो एक छोटा सा पदों का नाटक है। मतलब यह है कि यह कोई काव्य नही है। कविता की दृष्टि से विचार करने पर बहुत थोड़े गीत महत्व के या सुन्दर मालूम होंगे। नाटक में संगीत का काम पूरा करना, इतना ही इसका इस्तेमाल है, ज्यादह नही।

विलायत जाने से पहिले हम अपने घर पर वक्त-वक्त पर साहित्य प्रेमी लोगों को इकट्ठा किया करते थे। इन मौकों पर गाना बजाना, भाषण देना और फिर कुछ खाना-पीना हुआ करता था। मेरे विलायत से आने पर ऐसा एक ही मेला हुआ और वह भी आखिरी ही था। इसी मजलिश में इस्तेमाल करने के लिए मैंने यह 'वाल्मीकि प्रतिभा' नाटिका लिखी थी। इसके दिखावे मे मैंने यह 'वाल्मीकि' की एक्टिंग की थी और मेरी भतीजी प्रतिभा ने सरस्वती की। इस तरह से उसका नाम नाटक से जुड़ा हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर की एक किताब मे मैंने पढ़ा था कि भाषण पर मन के विकारो का असर पड़ने पर उसमे से ताल सुर अपने ही आप पैदा होने लगता है। यह ताल-सुर भी शब्द की तरह महत्व के है, क्योकि प्यार, दुश्मनी, दुःख, सुख, अचरज, वगैरह विकारो को प्रकट करने के लिए इन्सान को अपनी आवाज में फर्क करना पड़ता है, और इस कला मे बढते बढते ही इन्सान ने संगीतशास्त्र को खोज निकाला है, हर्बर्ट स्पेंसर के इस खयाल ने मुझ पर भी असर किया और मैं सोचने लगा कि गद्य व पद्य वाला नाटक क्यो न तैयार किया जाय। हमारे कहानीकार थोड़े बहुत यह काम किया करते है। वे विषय को पेश करते करते बीच मे ही गाने भी लग जाते हैं। इस तरह के भाषण पद्य वाले भाषण कहे जा सकते है। इनमे राग-रागिनी, ताल वगैरह कुछ नही होता। केवल सुर बदलता रहता है और तुक मिलाने पर खयाल रखा जाता है। बेतुकी कविता, तुक वाली कविता की बनिस्पत ज्यादह ढीली-ढाली होती हैं, लेकिन इस तरह के भाषणो मे तो तुक वाली कविता भी काफी ढीली-ढाली हुआ करती है। वहां राग रागनियो के कठिन कायदे पालने अथवा ताल-सुर मिलाने का खयाल नही रखा जाता, क्योंकि केवल मन के विकारों को पेश करना ही खास काम रहता है उससे सुनने वालों को भी कुछ बुरा नही मालूम होता।

'वाल्मीकि प्रतिभा' में जो इस तरह का नयापन पेश किया गया था, उसमे कामयाबी भी मिली। इसीलिए फिर एक दूसरी नाटिका लिखी। इसका नाम था

वाल्मीकि प्रतिभा

मूर की आयरिश रागों की एक सचित्र किताब हमारे पास थी। आनन्द में बेहोश होकर अक्षय बाबू जब इन रागों को छेड़ते तो मैं कई बार उन्हें बैठा-बैठा सुना करता था। इस किताब में कवितायें तसबीरों के साथ थीं। इन तसबीरों की सहायता से मैं अपने मन ही मन जादू की तरह, पुराने आयर्लैंड का सपना देखा करता था। उस समय तक मैं इन रागों को अच्छी तरह सुन नहीं पाया था। किताब में जो सादगी की तसबीर थी, उसी के सहारे यह राग मैंने मन ही मन गाया था। हां मेरी तेज इच्छा जरूर थी कि आयर्लैंड की इन रागों को ठीक तौर से सुनूं, सीखूं और फिर अक्षय बाबू को भी सुनाएं। जीवन मे कुछ इच्छाएं अपनी बदकिस्मती से पूरी होतीं और पूरी होते ही खत्म भी हो जाती हैं। विलायत जाने पर कुछ आयरिश रागों को सुनने का मुझे मौका मिला। उन्हें मैंने सीखा भी। नतीजा यह हुआ कि मैंने जितने राग सीखे, उनसे ज्यादह सीखने की चाह नहीं हुई। यद्यपि यह ठीक है कि मेरे सीखे हुए राग सादे, प्यार भरे, मीठे और करुणरस से भरे थे, लेकिन मैंने अपनी सपने की दुनिया के द्वारा पुराने आयर्लैंड के किसी दीवानखाने में जो गाने सुने थे उनसे इनका मेल नहीं बैठ सका।

जब मैं हिन्दुस्तान लौट आया तो मैंने अपने दोस्तों को आयरिश गीत सुनाया। उसे सुनकर वे बोले—रवि की आवाज कैसी हो गई? बड़ी अनोखी और विदेशी मालूम होती है। मेरा सुर भी उन्हें बदला हुआ मालूम पड़ा।

इस तरह देशी विदेशी गानों का मुझमें बीज पैदा हुआ। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' नाम की नाटिका इसी बीज जनमने का फल था। इस नाटक मे बहुत से गाने हिन्दुस्तानी हैं, लेकिन उनमे वह रस नहीं है जो शुरू से हमारे भारत मे चला आ रहा है। आसमान मे ऊंचे-ऊंचे चढ़कर उड़ने वाली चीजों को इस नाटिका मे जमीन पर जबरन दौड़ाया गया है। जिसने यह नाटिका देखी होगी या गीत सुने होंगे, मुझे भरोसा है कि वह कभी उन गीतों को हिन्दुस्तानी संगीत के लिए शर्मनाक या बेमतलब के नहीं समझेगी। देशी-विदेशी गीतों की मिलावट ही इस नाटिका की खासियत है। राग-रागनियों की कड़ी का मनमाना इस्तेमाल करने के जोश ने मुझे दीवाना बना दिया था। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' के कुछ गाने पहले पहल निखालिस हिन्दुस्तानी रागों में बनाये गये थे। इनमें कुछ गाने मेरे भाई ज्योति ने बनाये थे। कुछ गाने यूरोपियन राग में बनाये गये थे। भारत में 'तिल्लाना' राग के नाटक में

ज्यादह इस्तेमाल किया जाता है। इसलिए इस नाटिका में भी इस राग का खूब इस्तेमाल किया गया है। शराब के नशे में मस्त लुटेरों के गाने के दो पद है। इनके लिए अंग्रेजी राग ठीक समझा गया और वन देवता के शोक को बताने के लिए आयरिश राग का अच्छा इस्तेमाल हुआ।

'वाल्मीकि प्रतिभा' सिर्फ बांचकर समझने लायक नाटक नही है। बिना गाए या मच पर बिना सुने उसके गीतो से कोई रस नही मिल सकता। यूरोपियन लोग जिसे 'ओपेरा' कहते हैं, वह यह नही है। यह तो एक छोटा सा पदों का नाटक है। मतलब यह है कि यह कोई काव्य नही है। कविता की दृष्टि से विचार करने पर बहुत थोड़े गीत महत्त्व के या सुन्दर मालूम होगे। नाटक मे संगीत का काम पूरा करना, इतना ही इसका इस्तेमाल है, ज्यादह नही।

विलायत जाने से पहिले हम अपने घर पर वक्त-वक्त पर साहित्य प्रेमी लोगों को इकट्ठा किया करते थे। इन मौकों पर गाना बजाना, भाषण देना और फिर कुछ खाना-पीना हुआ करता था। मेरे विलायत से आने पर ऐसा एक ही मेला हुआ और वह भी आखिरी ही था। इसी मजलिश में इस्तेमाल करने के लिए मैंने यह 'वाल्मीकि प्रतिभा' नाटिका लिखी थी। इसके दिखावे में मैंने यह 'वाल्मीकि' की एक्टिंग की थी और मेरी भतीजी प्रतिभा ने सरस्वती की। इस तरह से उसका नाम नाटक से जुड़ा हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर की एक किताब में मैंने पढ़ा था कि भाषण पर मन के विकारों का असर पड़ने पर उसमे से ताल सुर अपने ही आप पैदा होने लगता है। यह ताल-सुर भी शब्द की तरह महत्त्व के है, क्योकि प्यार, दुश्मनी, दु.ख, सुख, अचरज, वगैरह विकारो को प्रकट करने के लिए इन्सान को अपनी आवाज में फर्क करना पड़ता है, और इस कला मे बढते बढते ही इन्सान ने संगीतशास्त्र को खोज निकाला है, हर्बर्ट स्पेंसर के इस खयाल ने मुझ पर भी असर किया और मैं सोचने लगा कि गद्य व पद्य वाला नाटक क्यों न तैयार किया जाय। हमारे कहानीकार थोड़े बहुत यह काम किया करते है। वे विषय को पेश करते करते बीच में ही गाने भी लग जाते है। इस तरह के भाषण पद्य वाले भाषण कहे जा सकते है। इनमें राग-रागिनी, ताल वगैरह कुछ नही होता। केवल सुर बदलता रहता है और तुक मिलाने पर खयाल रखा जाता है। बेतुकी कविता, तुक वाली कविता की बनिस्पत ज्यादह ढीली-ढाली होती हैं, लेकिन इस तरह के भाषणों में तो तुक वाली कविता भी काफी ढीली-ढाली हुआ करती है। वहां राग रागनियों के कठिन कायदे पालने अथवा ताल-सुर मिलाने का खयाल नही रखा जाता, क्योकि केवल मन के विकारो को पेश करना ही खास काम रहता है उससे सुनने वालो को भी कुछ बुरा नहीं मालूम होता।

'वाल्मीकि प्रतिभा' मे जो इस तरह का नयापन पेश किया गया था, उसमें कामयाबी भी मिली। इसीलिए फिर एक दूसरी नाटिका लिखी। इसका नाम था

"कालमृगया"। रामायण में एक कहानी है कि एक बार दशरथ शिकार खेलने गये थे। वहाँ उन्होंने भूल से शिकार की जगह एक मुनि के इकलौते बेटे को मार दिया। इसी कहानी के आधार पर यह नाटिका लिखी गई थी। हमने अपनी छत पर एक मंच बनाया और इस नाटिका को खेला। इसे देखकर दर्शक करुण रस में डूब गये। पीछे से इस नाटिका में कुछ बदलाव हुए और इसका बहुत सा हिस्सा 'वाल्मीकि प्रतिभा' में शामिल कर लिया गया। इसीलिए यह नाटिका अपने रूप में न छप सकी।

बहुत समय बाद 'माया का खेल' नाम की एक तीसरी नाटिका मैंने लिखी। यह उन दोनों से अलग तरह की थी। इसमें पदों को ज्यादह जगह दी गई थी। पहिली दोनों नाटिकाओं में पद्यों के बगीचे में नाट्य प्रसंग की माला गूंथी गई थी और इसमें पद्य-फूलों की माला। इसकी खास वजह एक्टिंग नहीं, भावना थी। असल में पूछा जाय तो मेरा मन यह नाटिका लिखते वक्त संगीतमय हो गया था।

'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'कालमृगया'—ये दोनों नाटिकाएँ लिखते वक्त मेरे में जो जोश था, वह दूसरी किसी भी किताब लिखते वक्त मुझे अपने में नहीं लगा। इसकी वजह यही कही जा सकती है कि ये दोनों नाटिकाए उस वक्त के संगीत को पैदा करने वाली प्रेरणा का दृश्य फल ही हैं।

नयी बात को देने के आनन्द ही के कारण ये नाटिकाएँ लिखी गईं। इनके लिखते समय सही-गलत, राग-रागनियों का देशी-विदेशीपन आदि बातों पर ध्यान नहीं रखा गया। मैं तो जोश के साथ जल्दी से इन्हें लिखता ही चला गया।

मैंने ऐसे कई मौके देखे हैं, जिन पर मेरे लेख या मेरे विचार से बंगला भाषा के पढने वालों का दिल बेचैन हो जाता था। लेकिन यह अचम्भे की बात है कि संगीत के बारे में पुरानी कल्पनाओं को मेरे धीरज के साथ फटकार बता देने पर वे कुछ भी नहीं डगमगाये। अपितु मेरे नये तरह के गानों को सुनकर वे खुश हुए थे। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' में सब गाने मेरे खुद के नहीं थे। कुछ गाने अक्षय बाबू ने भी बनाये थे और कुछ 'बिहारी चक्रवर्ती' की 'शरद मंगलमाला' के पदों का अनुवाद है।

इस गीत भरी नाटिका का प्रदर्शन दिखाने में मेरा ही खास हाथ था। बचपन से ही अभिनय की ओर मेरा लगाव था और इसी ओर मेरा ध्यान भी था। मैंने अपनी इस लगन को सबूत के साथ साबित कर दिया था। इससे पहिले मैंने सिर्फ एक ही बार अपने भाई ज्योति के लिखे हुए एक हास्य नाटक के अभिनय के दौरान 'अलीक-बाबू' का पार्ट लिया था। इसलिए 'वाल्मीकि-प्रतिभा' का मंचन मेरे लिये करीब-करीब नया ही था। उस वक्त मैं बहुत ही छोटा था। इसलिए मुझे कोई तकलीफ भी नहीं हुई।

उन दिनों हमारे घर में संगीत का झरना ही बह रहा था। उसके आस-पास उड़ने वाले हिमकण हमारे भीतर में इन्द्रधनुष के रंग के समान सात सुर झनकाते

थे। जब हमने जवानी में प्रवेश किया, तब एक तरह का नया जोश जागा और जानने की इच्छा और भी बढ़ गई।

चारों ओर के नये नये रास्ते सूझने लगे। हरेक बात का अनुभव पाने का यत्न करने की इच्छा होने लगी। हमे कोई भी बात नामुमकिन नही दिखलाई पड़ती थी। कोई भी काम हाथ मे लेने पर उसमें कामयाबी सामने खड़ी दिखाई पड़ती थी। लिखते, गाते, एक्टिंग करते जोश का पूर आ गया था। ऐसी दशा में मैंने बीसवें साल मे प्रवेश किया।

हमारी जिन्दगी के रथ को इतनी कामयाबी के साथ दौड़ाने वाली सामर्थ्य रूपी घोड़ों का मेरा भाई ज्योतिरिन्द्र सारथी था। वह किसी से भी डरने वाला न था। यह भी कहा जा सकता है कि इसके कोष मे डर नाम का शब्द ही न था। मैं बचपन मे कभी घोड़े पर नही बैठा था। एक बार उसने अपने आगे मुझे घोडे पर बिठला कर उसे खूब दौड़ाया। उस समय मुझे किसी तरह का डर नही मालूम हुआ। इन्ही दिनों में हम अपनी जमीदारी की खास जगह 'शेलिडा' मे थे। वहाँ आस-पास शेर होने की खबर मिली। फिर ज्योतिरिन्द्र के जोश का क्या पूछना? उसने तुरत ही शिकार के लिए जाने की तैयारी की। मुझे भी अपने साथ ले लिया। मेरे पास बंदूक नही थी, पर यह अच्छा ही था, क्योंकि वह शेर के बनिस्पत मेरे लिए ही ज्यादह भयानक होता। जंगल के पास पहुंच कर हमने अपने जूते उतारे और नंगे पाँव जंगल में घुसे। आखिर में बाँस के एक जाले में हम घुसे। उसके बीच की कंटीली टहनियाँ नष्ट हो गई थी, इसलिए हमारे खड़े होने लायक उसमे जगह न थी। अपने भाई के पीछे मैं खडा हो गया। यदि उस खतरनाक जानवर ने मुझ पर अपने जानलेवा पंजो से हमला किया होता तो उसे मारने के लिए मेरे पास जूते तक नही थे।

इस तरह मेरे भाई ने मुझे पूरी आजादी दे रखी थी। किसी भी डरावने काम मे वह मेरी सार-सभाल नहीं करता था, चाहे जो करने के लिए मैं आज़ाद था। कोई भी रूढि उसे बाँध नही सकती थी। वह बड़ा हिम्मतवाला था। इसलिए वह मेरा डरपोकपन और रिश्ते का अविश्वास दूर करने में पूरी तरह समर्थ था। □

संध्या गीत

जिस समय का मैं हाल लिख रहा हूं, उन दिनों मैं कविता लिखने में लगा हुआ था और अनेक कविताएँ लिख डाली थीं। 'मोहित बाबू' ने मेरी जो फुटकर कविताएँ मशहूर की हैं, इनमें ये कविताएँ 'हृदयवन' के नाम से एकट्ठी हैं। 'प्रभात-संगीत' के नाम से मेरी कविताएँ प्रसिद्ध हुईं, उनमें एक कविता है, उसी कविता पर से 'हृदय-वन' नाम रखा गया था।

बाहरी दुनियां से मेरा रिश्ता था ही नहीं और इस कारण मैं उससे पूरी तरह अनजान था। अपने हृदय के विचारों में डूब चला था। बिना बात के मन में विकार और उद्देश्यरहित इच्छा, इन दोनों के बीच में मेरी कल्पना घूमा करती थी। ऐसी दशा में मैंने जो कुछ रचना की,, उसमें से बहुत सी रचनाएँ मोहित बाबू द्वारा छपाई किताब में नहीं छापी गईं। इस किताब में 'संध्या-संगीत' शीर्षक से छापी कविताओं में थोड़ी सी कविताएँ 'हृदय-वन' नाम से लिखी गई हैं।

मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र और उनकी पत्नी एक बार लम्बी यात्रा पर गये। उस समय उनके कमरे मय सामने की गच्ची के खाली पड़े थे। मैंने इन्हें अपने कब्जे में ले लिया और एकांत में अपना समय बिताने लगा। उस समय अपने-आप का ही साथ मुझे मिला हुआ था। ऐसी दशा में भी मैंने अपने परम्परा से चले आ रहे कविता रचने के काम से क्यों मुंह मोड़ लिया? यह बता नहीं सकता हूं। संभव है कि जिन्हें मैं प्रसन्न करना चाहता था और जिनकी काव्य-रुचि के अनुसार मेरे विचारों का रूप घड़ा गया था, उनसे अलग हो जाने के ही कारण उसके द्वारा लादे हुए काव्य-रचना के धर्म से भी मैं विमुख हो गया होऊं?

काव्य रचना के लिए उन दिनों मैं स्लेट पट्टी काम में लिया करता था। काव्य-रचना मे छुटकारा पाने में मुझे इन चीजों की सहायता मिली। पहिले मैं अपनी कविता जिस पोथी में लिखा करता था, शायद उसे कवि कल्पना को उड़ान पसद थी। तभी उस पोथी को खुश करने के लिए, दूसरों से अपनी बराबरी करते हुए मैं कविताएँ लिखा करता था। लेकिन इस समय की मेरी मन की दशा के काबिल स्लेट पट्टी ही थी। इस समय मुझे मालूम होता था कि स्लेट पट्टी मुझसे कह रही है–"अरे? डरता क्यों है? जो मन में आवे सो लिख? एक बार हाथ फिराया कि साफ! डरने का कोई कारण ही नहीं है।"

इस तरह छुटकारा पाने पर मैंने खुले मन से एक–दो कविताएं बनाई। उससे मुझे भीतर ही भीतर बड़ा सतोष मिला और मेरा मन कहने लगा कि "मैं जो कुछ लिखता हूं, वह मेरा है।" इसे अपनी बड़ाई न कहें। असल में तो मुझे अपनी पहली रचनाओं का ही गर्व था। उन रचनाओं का भार हल्का करने के लिए मेरे पास सिवाय गर्व के दूसरा था ही क्या ? अपने-आपका परिचय हो जाना कुछ कृतार्थता नही है। पहिले बच्चे के जन्म पर माता-पिता को जो सुख होता है, वह उसके जन्म के कारण नहीं, अपितु वह बालक उनके हाड-मांस का होता है, इसलिए आनन्द होता है और आगे जाकर वह बालक यदि कोई अनोखा व्यक्ति निकला तो उसके लिए भी उन्हे गर्व जरूर होता है, लेकिन वह दूसरे तरह का होता है। कविता रूपी अपनी रचना के बारे मे मेरी भी यही दशा था।

इस समय अपनी कविता के अच्छी होने के आनन्द के कारण मैं यमको (एक ही शब्द के दो अर्थ के प्रयोग) की ओर बिल्कुल ध्यान नही देता था। जिस तरह कोई-कोई जल का वहाव सीधा न बह कर सांप के समान टेढा-तिरछा बहता है, उसी तरह मेरी कविता के वहाव की भी दशा थी। इससे पहिले मैं यमक हीन कविता लिखना दोष समझता था। अब उसमें मुझे कोई नुकसान नहीं मालूम होता। आजादी पहिले कायदो को खत्म कर नये कायदे बनाती है और ये नये कायदे ही उसे सच्चे 'अपने राज' की छाया में लाते हैं। छंद के नियमों की लापरवाही करके मैं मनमानी तौर पर लिखा करता था। ऐसी अनूठी कविता सुनने के लिए मुझे उन दिनो एक ही सुनने वाले मिले थे। वे थे हमारे जानकर अक्षय बाबू। उन्हे मेरी कविता पहले-पहल सुनने पर जितना सुख हुआ, उतना आश्चर्य भी। वह मेरी बड़ाई करने लगे, इससे मेरा उत्साह दूना बढ गया और मेरी आजादी का सिकुड़ा हुआ रास्ता अब और बड़ा हो चला।

बिहारी चक्रवर्ती की कविताएँ 'तिरताल' राग में थी। दोताल की बजाय इस तिरताला का नतीजा एक अलग ही तरह का हुआ करता है। यह बहुत आसान तरीके मे गाया जा सकता है। किसी समय मुझे यह बहुत पसंद था। इसे सुनते समय ऐसा मालूम होता है कि मानो हम पैदल न चलकर साईकिल पर दौड़े जा रहे हैं। मुझे इस चाल की आदत पड़ गई थी, पर न जाने क्यों 'संध्या-संगीत' के लिखते वक्त मुझे यह आदत छोड़ देनी पड़ी। इससे कोई यह न समझ ले कि छन्द के बंधन में मै जकड गया होऊंगा। मैं फिर कोई खास तरह के छंद के बंधन में नही पड़ा। 'संध्या-संगीत' की रचना के समय मैं अपने आपको आजाद और बेपरवाह समझने लगा। यदि परम्परा को छोड़कर एक नये रास्ते से चलने के कारण कोई अपनी समालोचना करेगा, इसका मुझे न तो खयाल ही आया, और न डर ही लगा।

परम्परा के कायदों से छुटकारा पाकर रचे हुए काव्य से मुझमें जो शक्ति

पैदा हुई, उससे मैं यह समझने लगा कि मुझमें जिस चीज का संग्रह था, वह मैं दूसरी ही जगह पर ढूंढता फिरता था। अपनापन पाने की राह में अपनी काबिलियत के प्रति अविश्वास के सिवाय दूसरी कोई बात बाधा के रूप में न होती। अपनी आत्मा को कड़ी रहित देखकर मैं अपने आपको गुलामी के सपने से जगा हुआ समझने लगा और अपनी इस आजादी का भरोसा करने के लिए मैं कविता के क्षेत्र में लम्बी-लम्बी और ऊंची-ऊंची उड़ानें भरने लगा।

मेरे लेखन का यह भाग मैं बहुत ही स्मरण योग्य समझता हूं। कविता की दृष्टि से शायद मेरे रचे हुए *'संध्या-संगीत'* तुच्छ दृष्टि के मालूम होंगे और असल में देखा जाय तो उनका रूप है भी ऐसा अटपटा ही। उनके छंद, उनकी भाषा या विचार, किसी को भी निश्चित रूप नहीं मिला हुआ है, पर उसमें एक खासियत है, वह यह कि मेरे मन में जो कुछ था, वह मैंने अपने मनमाने ढंग से उनमें पहले-पहल लिखना शुरू किया। उन कविताओं का मूल्य भले ही कुछ न हो, पर मैंने अपनी भावनाओं को अपनी इच्छा के अनुसार जिन शब्दों का ढांचा दिया, उससे मुझे होने वाला आनन्द तो कहीं नहीं गया है।

□

संगीत पर निबन्ध

जब मैं विलायत में था, तब मेरा इरादा बेरिस्टरी पढने का था। इतने ही में पिताजी ने मुझे वापिस बुला लिया। मैं लौट आया। विचार से तय किया काम बीच में ही छोड़ देना कुछ दोस्तो को बहुत अखरा और वे मुझे फिर एक बार विलायत भेजने के लिए पिताजी से कहने लगे। इनके कहने का नतीजा भी हुआ। मैं फिर अपने एक रिश्तेदार के साथ विलायत जाने के लिए घर से निकला। मेरी किस्मत वकील बनने के इतनी खिलाफ थी कि पहिले तो मैं विलायत पहुंच भी गया था और कुछ दिन वहां रह भी आया था, लेकिन इस दफा तो विलायत पहुंच भी नही सका। कुछ कारणों से हमें मद्रास मे कलकत्ता वापस लौट आना पड़ा। इसमें शक नही है कि लौटने का कारण कोई बडा भारी नही था, तो भी हमारे इस बर्ताव पर कोई हंसा नही। इसीलिए मैं यहां कारण बताने की जरूरत भी नही समझता। लक्ष्मी के दर्शनो के लिए वकील बनने का मैंने दो बार यत्न किया, लेकिन दोनों ही बार मुझे सफलता नही मिली। मुझे भरोसा है कि लोग भले ही इस पर कुछ कहें, पर न्याय का देवता मुझसे नाराज नही होगा। वकील बनकर उसकी लायब्रेरी में एक और अधिक वकील की जो मैं बिना कारण बढती करता, वह नही हुई। इस पर वह मेरा ही पक्ष लेंगे और मेरी ओर दया भरी निगाह से देखेंगे।

उस समय मेरे पिताजी मसूरी पहाड़ पर गये हुए थे। मैं भी डरते-डरते उनके पास गया। लेकिन उन्होने नाराजगी नही दिखलाई अपितु ऐसा मालूम हुआ कि जो कुछ हुआ उसे वे ठीक ही समझते है। शायद मेरे लौटने में वे भगवान का कोई भला ही समझते होंगे। 'बेथुन सोसायटी' की प्रार्थना से मेडिकल कालेज के हाल मे मैंने विलायत जाने के पहिले दिन एक निबन्ध पढ़ा था इस तरह का यह मेरा पहला ही यत्न था। 'रेवरेंड के.एम. बनर्जी' सभापति थे। निबन्ध का विषय 'संगीत' था। इसमें बजाने के बारे मे कोई विचार नहीं किया गया। इस निबध में मैंने यह साबित करना चाहा था कि शब्द के सही अर्थ को सही रीति से बताना ही गायन का अन्तिम ध्येय है। इस निबन्ध में अपने विषय को संक्षेप मे पेश किया गया था। अपने विषय के विस्तार के लिए शुरू से आखिर तक मैंने अभिनय के साथ गाने गा-गा कर पेश किये थे। आखिर में सभापति ने अपने भाषण में मुझे बहुत सराहा था। शायद इसके कारण मेरी मीठी आवाज, विषय को पेश करने की उत्सुकता और नमूने बतौर कई तरह के गायनों के चुनने में की हुई मेहनत, ये ही होंगे लेकिन आज मुझे

साफ तौर से मंजूर करना चाहिये कि उस दिन लगन से पेश किया हुआ विचार वहम भरा था।

गाने का काम और स्वरूप एक खास तरह का है, जब गायन को शब्द रूप दिया जाता है तब शब्द को अपनी सीमा छोड़कर अपने को खास महत्वभरा न समझ लेना चाहिये। वे मिठास पैदा करने के सिर्फ साधन हैं गायन के ध्येय नहीं। इसलिए इन्हें गायन का महत्व कम करना ठीक नहीं है। गायन में बहुत ही मिठास इकट्ठा है। उसे शब्द पर आश्रित रहने की जरूरत भी नहीं है। असल मे देखा जाय तो जहां शब्द की पहुंच नहीं है, वही गायन का काम शुरू होता है। अजान बातों को विस्तार के साथ बताने की ताकत गायन में है। हम शब्दों के द्वारा जो बात नही कह सकते, गायन के द्वारा वही बात जता सकते हैं।

इसलिये गायन पर शब्द का भार जितना कम पड़े, उतना ही अच्छा है। हिन्दुस्तानी गायन मे शब्दो की कोई खास जगह नहीं है। राग-रागनियो को पूरी आजादी है। जब आजादी के साथ राग-रागनियों को बढ़ने का मौका दिया जाता है, तभी वे अपने चमत्कार पूर्ण क्षेत्र में हमारी आत्मा को मोहित कर देते हैं और गायन को पूर्णता तक पहुंचा देते हैं। बंगला मे इससे उल्टा हुआ है। यहां शब्दों को ज्यादह महत्त्व दिया जाता है। इस कारण गायन अपनी शक्ति का विकास नही कर पाता और इसीलिए हमारा संगीत अपनी बहिन कविता का गुलाम बनकर रह गया। पुराने वैष्णव कवियो की कविता से लेकर आजकल के 'विधुबाबू' की कविता तक ने शब्दो के द्वारा अपनी सुन्दरता जाहिर की है। इतना होते हुए भी जिस तरह हमारे समाज मे आदमी-औरत का मालिकाना मंजूर करके भी अपना अधिकार जमाते है, उसी तरह काव्य की गुलामी मजूर करने पर भी सगीत काव्य पर अपना अधिकार जमाता है। अपनी कविताओं को रचते समय मुझे हमेशा यह खयाल आता रहा है। एक बार अपने मन में गुनगुनाते हुए जब मैंने कविता रची, तब मेरे खयाल में यह आया कि राग की सहायता से जिस अनजान जगह तक शब्द पहुंच सकते है, उस जगह तक वे अपने बल पर नही पहुच सकते। 'राग' के कारण मुझे यह मालूम हो गया कि मैं जिस राज को जानने के लिए इतना बेचैन था, वह राज जगल के मैदानो की हरियाली मे मिला हुआ है, चांदनी रात की शुभ्रता में डूब गया है, फैले हुए नीले आसमान के बुरके मे छितिज को झुक-झुक कर देख रहा है और जमीन, जल व पासमान मिलकर आपस में पूरे जानकार हो गये हैं।

अपने बचपन में मैंने किसी पद का एक चरण सुना था। उसे एक ही चरण ने मेरे मन में इतने अनोखे चित्र बनाये कि वह चरण आज भी मेरे मन मे घुल रहा है। एक दिन मैं गायन बना रहा था। उसके स्वर को मन में जमाते हुए मैंने उसी चरण को पूरा किया। यदि उस मूल पद का स्वर न मिला होता तो कविता का

कैसा रूप होता, यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन उन ताल सुरों ने मुझे सुन्दरता के प्रकाश में घिरी हुई उस अजान व्यक्ति से मुलाकात करा दी। मेरी आत्मा मुझसे कहने लगी कि वह (रमणी) गहरे सागर के उस पार से इस संसार को समाचार पहुंचाया करती है। वही आती जाती रहती है। ओस पड़े हुए शरद ऋतु के सवेरे मे या वसंत ऋतु की महकती रातों में हमारे मन के भीतर कभी-कभी अचानक दिखलाई पडती है, वही यह व्यक्ति है। उस सुन्दर औरत का गाना सुनने के लिए हम कभी-कभी आकाश में उड़ान मारा करते हैं। इस पराई भुवन-मोहिनी के दरवाजे तक ताल-सुर मुझे उड़ाते हुए ले गये और इसलिए उस चरण के सिवाय बाकी शब्द भी उसी को लेकर लिखे गये।

इसके कई सालों बाद बोलपुर के एक रास्ते में एक भिखारी गाना गाता जा रहा था। उस समय भी मुझे यही मालूम हुआ कि वह भिखारी भी उसी बात को दुहरा रहा है। अजान पछी लोहे के पींजरे में बन्द होकर भी असीम और अजान बातों को गुनगुनाया करता है। मन ऐसे पंछी को हमेशा के लिए अपने पास रखना चाहता है पर मन में ऐसी ताकत कहां? उन अजान पछियो के आने जाने की बात, भला सिवाय ताल सुरों के कौन कह सकता है?

केवल शब्दों से भरी संगीत कला की किताब छापने से मुझे जो बहुत दुःख होता है, उसका यही कारण है। ऐसे पदो में सरसता आना मुश्किल है। □

नदी किनारे

दूसरी दफा विलायत जाते समय मुझे रास्ते से लौटना पड़ा। उस समय मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र अपनी पत्नी सहित चन्द्र नगर में नदी के किनारे पर रहते थे। लौटने के बाद मैं उन्ही के पास रहने चला गया। अहा! फिर गंगा नदी। दोनों किनारों पर पेड़ों की कतारें, उनकी ठंडी छाया में से बहती हुई गंगा नदी का प्रवाह और उस धारा के कलकल की आवाज से मिला हुआ मेरा स्वर। उस वक्त चाहत न मिलने से मैं दुखी था, लेकिन साथ ही मौजभरी चीजों के भोगते के कारण थका हुआ था। मेरी दशा न कहने लायक थी। रात के समय बंगाल प्रदेश का चमचमाता आसमान, दक्खिनी हवा, गंगा का बहाव, किसी राजा में दिखलाई पड़े ऐसी सुस्ती, एक ओर की छितिज से लेकर दूसरी ओर की छितिज तक तथा हरी-भरी जमी से लेकर आसमान तक फैला हुआ निकम्मापन, ये सब बातें भूखे-प्यासे को अनाज-पानी के समान मेरे लिए था।

इस बात को कुछ ज्यादा साल नही बीते। लेकिन 'काल' ने कितने ही बदलाव कर डाले है। नदी किनारे पर उस पेड़ की कतारों की ठंडी छाया मे बनी हुई हमारी झोपड़ियों की जगह पर अब मिलें खड़ी हो गई है। वे डरावने राक्षस की तरह सू-सूं करती हुई अपना सिर ऊंचा किये खड़ी हैं। आजकल की रहन-सहन रूपी दुपहरी की चक चकाहट मे दिली-आराम का वक्त समाप्ति की दशा में पहुंच चुका है। उस जगह पर अगिन मुंह वाली अशान्ति ने चारो ओर से हमला कर रखा है। कोई इसे भले ही हमारे भले की बात समझे, पर मैं तो यह किसी भी रूप मे मंजूर नही कर सकता। कोई कुछ भी कहे, पर मेरा तो यही विचार है।

पवित्र गंगा नदी मे देवता पर मे उतरे बेदाग कमल के फूलों के बहने के समान मेरे दिन भी सर-सर निकल गये। मुझे ऐसा मालूम होने लगा, मानो गंगा नदी में साफ-सुथरे कमल के फूलो का झुण्ड ही बह रहा है। बरसात में दुपहर के वक्त पुराने वैष्णव पद अपने ताल-सुर मे गाते और हारमोनियम बजाते हुए किसी बहके आदमी की तरह मैंने कुछ दिन बिताये। कभी-कभी तीसरे पहर नाव में बैठकर हम लोग नदी मे घूमा करते थे उस समय मैं गाता और ज्योतिरिन्द्र सारंगी बजाता था। पहिले पूरबी राग में गाना शुरू करते फिर ज्यों-ज्यो दिन ढलता जाता त्यों-त्यों राग भी बदलता जाता और आखिर मे विहाग राग छेड़ते। उस समय पश्चिम

दिशा अपने सुनहरी खिलौने की दुकान का दरवाजा बंद करती और पेडो की कतार पर चांद उगता हुआ दिखलाई पड़ता था।

फिर हमारी नाव बगीचे वाले घर के घाट पर आकर लगती। बगीचे की गच्ची पर जाजम डालकर हम नदी की ओर देखा करते थे। उस समय जमी और जल पर सब ओर रुपहली शातता फैली हुई दिखलाई पड़ती थी कहीं-कहीं कोई नाव भी दिखलाई पड़ जाती। किनारे पर पेडो की कतारो के नीचे काली छाया फैली हुई होती और शात धारा पर चाद की चांदनी, हमारे बाग वाले घर का नाम 'मोरेनची बाग' था। जल से लेकर घर के बरामदे तक सीढिया थी। घर के कमरे भी एक-से न होकर अलग-अलग तरह के बने हुए थे। दालान भी एक ऊंचाई पर न होकर कुछ ऊंचे और कुछ नीचे थे। कुछ दालानों पर जीने से चढकर जाना होता। दीवानखाना खूबसूरत था। उसका मुंह घाट की ओर था। दीवानखाने की खिड़कियां कांच की थी। उन पर रंग-बिरंगे चितराम बने हुए थे।

एक ऐसा चित्र था कि घनी छाया मे आदि ढकी हुई पेड़ की टहनी पर एक झूला टंगा हुआ है। कहीं उजाला है और कही अंधेरा। ऐसे कुञ्ज मे दो आदमी उस झूले पर बैठकर झूल रहे हैं। दूसरा एक चित्र था, उसमें दिखलाया गया था कि किले के सामने एक बहुत बड़ा राजमहल है, उसकी कई सीढिया हैं और त्यौहार की तरह सजे हुए आदमी-औरतों के झुण्ड के झुण्ड इधर-उधर घूम रहे है। खिड़कियों पर उजाला पड़ने पर यह चित्र चमकने लगते और इस कारण बड़े सुन्दर दिखने लगते थे।

उनकी सुन्दरता ऐसी मालूम होती थी, मानो वह नदी के ओर के माहोल को त्यौहार के संगीत से भर रही हैं। बहुत पुराने समय मे होने वाली मिजवानी का यह दूसरा चित्र है, उस मिजवानी का ठाट-बाट लुभाने उजाले में सामने ही दिखलाई पड़ रहा है और चित्र मे झूले पर गाया जाने वाला प्रेम-संगीत नदी-किनारे के जंगल को अपने कथानक से सजीव कर रहा है। बगीचे वाले घर के सब से ऊपर का कमरा गोल मीनार के ऊपर था। इसके चारो ओर खिड़कियां थी। कविता बनाने के लिए मैं इस कमरे में बैठा करता था। नीचे पेड़ और ऊपर आसमान के सिवाय वहां से और कुछ भी नही दिखता था। उस समय मे 'सन्ध्या-संगीत' की रचना मे खो गया था। इसमें मैंने अपनी इस जगह के बारे में भी एक कविता लिखी थी।

संध्या-संगीत

इस समय साहित्य की चर्चा करने वालों में, ताल-सुर के परम्परा से चले आ रहे कायदों को एक ओर रखकर नये कायदो को चलाने और तोतले गाने वाले के नाम से मैं प्रसिद्ध हो गया था। मेरे लिए कहा जाता था कि मेरे लेख साफ नही होते। उस समय भले ही मेरे लिए यह कहना मुझे न रुचा हो, पर यह कहना आधारहीन न था इसमे थोड़ी बहुत सचाई भी जरूर थी। वास्तव मे मेरे कविता लेखन को दुनियां के अनुभव का बल नही था और वह बल मिल भी कैसे सकता है जबकि बचपन में अकेलेपन मे बंदी बनाकर मैं रखा गया था।

मेरे पर लगाया हुआ आरोप भले ही आधारहीन न हो, पर उस आरोप के पीछे छिपी हुई एक बात तो मैं कभी मजूर नही कर सकता। वह यह कि मैं लोगों के मन पर अधिक नतीजे के लिए जान-बूझ कर ऐसे गहरे तरीके का सहारा लेता हूं। इस आरोप से मुझे बहुत दुःख होता था। सौभाग्य से जिनकी दृष्टि दोषरहित है उनके लिए किसी युवा को चश्मा लगाते हुए देखकर यह कहना कि यह केवल फैशन के लिए लगाया गया है व आखें मिचकाना हो सकता है और बर्ताव में ऐसा होता भी है पर वह नही दीखने का ढोंग रचता है, ऐसा उस पर आरोप लगाना गलत है। धुंवाभरा माहोल संसार की उत्क्रांति की एक दशा है। इस दशा पर किसी खास कारण का आरोप करना ठीक नहीं है।

जिस कविता मे निश्चितता न हो, उसे किसी काम का न समझने से, साहित्य के सही तत्वों की हमें कभी जानकारी न होगी। यदि ऐसी कविता में आदमी के स्वभाव की कोई सही बाजू जाहिर की गई हो तो वह कविता जरूर ही संग्रह करने काबिल है। आदमी के स्वभाव की यदि कोई सही तस्वीर उस कविता में न हो, तभी उसे दूर करना चाहिये। आदमी की जिन्दगी में ऐसा भी एक वक्त होता है, जब कि न कही जाने वाली बातों के बारे मे दयावृत्ति और साफ-सुथरी न होने की चिंता ही उसकी मन की भावना बन जाती है। जिन कविताओं में कोई भी मनोभावना जाहिर करने का यत्न किया जाता है, वे कविताएं बेमुद्द की नही मानी जा सकती। बहुत हुआ तो उनकी कोई कीमत नही है, ऐसा कहा जा सकता है, लेकिन यह भी भरोसे के साथ नही। यह दोष उन भावनाओं का नही हो सकता, जिन्हें प्रकट किया गया है, लेकिन उस असफलता का दोष है जिसके खातिर भावनाओं को साफ रूप नही दिया जा सका।

इन्सान में भी भीतर और बाहरी ऐसा दोहरापन है। आचार-विचार और भावनाओं के बहाव के पीछे रहे भीतरी आत्मा की अक्सर बहुत कम जानकारी हो पाती है। जिन्दगी की बढोतरी का भीतरी आत्मा एक उपाय है। उसे छोड देने से काम नही चलेगा। जब बाहरी और भीतरी वार्ताओं का आपस में मेल नहीं रहता तब आत्मा घायल सी हो उठती है और उसका दर्द बाहर भी आने लगता है। उसका वर्णन करना या उसको नाम देना मुश्किल है। खास अर्थ वाले शब्दों के समान उस दर्द को बोला नहीं जा सकता। यह तो अस्पष्ट दर्दीले स्वर के समान हुआ करता है।

संध्या-संगीत में प्रकट खेद और दुःख रूपी विकार मेरे भीतर में पैदा हुए थे। भीतर ही भीतर दबाकर रखा हुआ आत्मा, बंधन तोडकर आजाद माहोल मे आने का यत्न किया करता है। ससार के दूसरे पदार्थों के समान कविता में भी एक-दूसरे के विपरीत शक्तियां रही हुई हैं। उनका आपस में मेल नही बैठता। एक ताकत एक ओर खीचती है और दूसरी उसके खिलाफ। इन आपसी खिलाफ ताकतो में यदि बहुत ही विरोध हो जाए या बहुत ही मेल हो जाए, तो मैं समझता हू कि कविता का जन्म ही नहीं हो सकता। यदि खिलाफत से जन्मा दुःख नष्ट होकर इन ताकतों का आपसी मेल हो जाय, तो सारंगी से निकलने वाली आवाज के समान कविता मे से संगीत पैदा होने लगता है।

'संध्या-संगीत' के जन्म समय में किसी ने 'रणसिंगा' फूंक कर उसका स्वागत किया, तो भी उसे रसिक पाठकों की कमी नही रही। एक जगह मैंने यह बतलाया ही है कि रमेशचन्द्र दत्त की बडी लडकी का विवाह था। श्री बंकिम बाबू दरवाजे पर खड़े थे और रमेशचन्द्र रिवाज के मुताबिक उनके गले मे हार डाल कर उनका स्वागत कर रहे थे कि इतने में ही मैं पहुचा। बंकिम बाबू ने अपने गले से हार निकाल कर मेरे गले मे डालते हुए कहा—'रमेश ! पहिले इनके गले में हार डालना चाहिये। क्या तुमने इनका साध्य-सगीत नही पढा ? रमेश बाबू ने जवाब दिया—मैंने अभी तक नही पढा। तब उसके कुछ पद्यों पर बंकिम बाबू ने अपनी सहमति प्रकट की। उस राय से मैंने मेरी मेहनत को कामयाब समझी।

साध्य-संगीत' के कारण मुझे एक जोशीले दोस्त मिले। इनके द्वारा की हुई बड़ाई ने सूरज की किरणों के समान मेरी नयी मेहनत में नयी जिन्दगी फूक दी और सही राह दिखलाई। इनका नाम 'बाबू प्रियनाथ सेन' है। संध्या-सगीत के पहले 'भग्न-हृदय' नाम के मेरे काव्य में इन्हे मेरे बारे में नाउम्मीद कर दिया था। लेकिन साध्य-सगीत के कारण इन्हे फिर मुझ पर प्यार उमडा। इनसे परिचय रखने वाले लोगो को मालुम ही है कि ये साहित्य के सात समुन्दरो से सुरक्षित रह कर घुमक्कड एक होशियार माझी थे। ये अक्सर सभी भारतीय भाषाओं और कई विदेशी भाषाओं के साहित्य के जानकार और मर्म के पहिचानने वाले भी थे। इनसे बातचीत करने

समय खयालों की दुनियां के छिपे-छिपाये दृश्यों के चित्र भी देखने को मिल जाते थे। इनके साथ की मेरी दोस्ती बहुत ही कीमती थी और उससे मुझे कल्पना से बढ़कर फायदा हुआ।

प्रियनाथ बाबू बहुत ही ज्यादह अपने भरोसे के साथ साहित्य-सम्बन्धी विचार सिद्ध किया करते थे। अधिकार के साथ भावा और अपने भरोसे के साथ उन्होंने जो साहित्य की समालोचना की उससे मुझे बहुत सहायता मिली। उसे मैं शब्दों में कह नहीं सकता हूं। उन दिनों मैं जो कुछ लिखता, वह सब उन्हें सुनाया करता था। सही मौके पर अपने प्रशसा भरे विचारों से उन्होंने मुझ में जोश भरा। यदि उन्होंने मेरी बड़ाई न की होती तो उस दशा मे मैंने जो जमीन तैयार की और आज उसकी फसल काट रहा हू—फल बटोर रहा हूं—वह फल मिलता कि नहीं, यह कहना मुश्किल है।

☐

प्रभात संगीत

गंगा के किनारे रहते हुए मैंने थोड़ा सा गद्य भी लिखा था। यह गद्य किसी खास बारे में या कोई खास वजह से नहीं लिखा था। लेकिन जिस तरह बच्चे पतंग उड़ाते हैं, उसी तरह आसानी से मैंने यह सब लिख डाला था। भीतर की ओर जब बसंत आता है, तब कई तरह के छिन-छिन खयाल भी उठते हैं। ये खयाल मन में इधर-उधर दौड़ा करते हैं। बिना खास घटना हुए अपना ध्यान भी उनकी ओर नहीं जाता। यह छुट्टियों का वक्त था। शायद इसीलिए जो ध्यान मे आवे, उसी को इकट्ठा करने की इच्छा मुझे हुई होगी या मेरी आत्मा ने जो छुटकारा पाने पर राह में आवे सो लिखने का इरादा किया था, उसी इरादे का यह दूसरा पहलू होगा। मैं जो कुछ उस वक्त लिखता, उसकी कोई मंजिल नहीं होती। केवल मैं लिखने वाला हूं, इतना विचार ही मेरे लिखने को जोश के लिए काफी था। आगे जाकर मेरे यह सब गद्य लेख 'विविध प्रबन्ध' के नाम से छपे, और पहले संस्करण में ही उनका अन्त भी हो गया। फिर से दुहराने के खातिर बेचारों को फिर से जन्म न मिल सका।

मुझे याद है कि मैंने इसी वक्त अपना पहला उपन्यास 'बऊ ठकुरानीर हाट' शुरू किया था।

नदी किनारे पर कुछ दिन रहने के बाद ज्योति कलकत्ता चले आये। यहां म्यूजियम के पास आम रास्ते पर एक मकान लेकर ये रहने लगे। मैं भी इन्हीं के पास रहता था। इस जगह पर रहते हुए उक्त उपन्यास और संध्या-संगीत लिखते-लिखते मेरे भीतर कुछ खास क्रांति हुई।

एक दिन सांझ के वक्त मैं 'जोड़ा साकी' वाले घर की गच्ची पर घूम रहा था। डूबते सूरज का उजाला, सांझ के उजाले से इस कदर घुल गया था कि चारों ओर फैला हुआ सांझ का आना मुझे खास लुभाना लगा। इस दृश्य ने मुझे लुभा लिया। सुन्दरता के अधिक होने से मेरा मन इतना भर गया कि नजदीक वाले घर की दीवारें सुन्दर होती जा रही हैं, ऐसा लगने लगा। अचम्भित होकर मैं अपने आप से पूछने लगा कि 'रोजाना के जाने पहचाने संसार पर छनिक नाश का पर्दा आज दूर हो जाने का क्या कारण है? इस सांझ के उजाले में कोई जादू तो नहीं है?—नहीं! ऐसा तो नहीं हो सकता।'

तुरन्त ही मेरे खयाल में आ गया कि यह सांझ के वक्त का अतरंग पर हुआ नतीजा है। सांझ की काली छाया ने मेरी आत्मा को घेर लिया था। दिन के चका-

चौथ उजाले में मेरी आत्मा के भटकने में जो कुछ दीखता, वह सब उससे डूबकर दिखाई नहीं दिया करता था। लेकिन अब आत्मा को पास में छोड़ देने से संसार को उसके इस असली रूप में मैं देख सका कि उसमें छोटेपन का नाम भी नहीं है। वह तो सुन्दरता और आनन्द से लबालब है। यह मालूम होने पर अकेले अहं को दबाकर दुनिया की ओर सिर्फ देखने वाला बनकर देखते रहने की मैं कोशिश करने लगा। उस समय मुझे एक खास तरह का सुख लगने लगा। एक बार मैं अपने एक रिश्तेदार को यह समझाने लगा कि दुनिया की ओर किस रीति से देखना चाहिए और उस तरीके से देखने पर मन का बोझ किस तरह हल्का हो जाता है। मैं समझता हूं कि मेरी यह कोशिश शायद कामयाब न हो सके। इसके बाद इस गहरे राज के बारे में मेरी और भी प्रगति हुई और वह हमेशा बनी रही।

हमारे सदर रास्ते वाले घर से इस रास्ते के दोनों छोर दिखलाई पड़ते थे। एक छोर पर फ्री स्कूल था। इस स्कूल के खेल के मैदान में जो पेड़ थे, उन्हें मैं एक दिन बरामदे में खड़ा खड़ा देख रहा था। उन पेड़ों के पत्तों से बने हुए चोटी पर से सूरज की सवारी ऊपर आ रही थी। इस दृश्य को देखते-देखते मेरी आंखों पर जैसे पर्दा दूर हो गया हो, मुझे दिखने लगा कि सारा संसार चमत्कार जनित उजाले से भरा हुआ है और उसमें चारों ओर से सुन्दरता और आनन्द की लहरों पर लहरें उठ रही हैं। उस उजाले ने मेरे मन पर जमें हुए खेद और निराशा के घरों को एकदम खत्म कर दिया और चारों ओर फैले हुए तेज से मेरा हृदय भर दिया। उसी दिन 'जलपात जागृति' नाम की कविता मेरे भीतर से बाहर निकल पड़ी और धबधबे की तरह उसका प्रवाह बहने लगा। कविता पूरी हो गई, पर संसार के आनन्द भरे रूप पर कोई पर्दा नहीं पड़ा। आगे जाकर तो यह खयाल इतना पक्का हो गया कि मुझे कोई भी इन्सान या चीज छोटी दुःख भरी या आनन्द-रहित मालूम नहीं होती थी। इसके दूसरे या तीसरे ही दिन एक और बात हुई, वह मुझे खास चमत्कारी लगी।

एक बड़ा अनोखा आदमी था। वह मेरे पास बार-बार आता और पागलों जैसे सवाल किया करता था। एक दिन उसने पूछा—"आपने अपनी आंखों में कभी भगवान को देखा है? मैंने कहा नहीं। उसने कहा—"मैंने भगवान को देखा है। जब उससे यह पूछा कि वह कैसा है? उसने कहा कि भगवान की मूर्ति एकदम मुझे दिखाई दी और तुरंत ही गायब हो गई।

ऐसे आदमी के साथ इस तरह की बातचीत से किसी को आनन्द नहीं होता और मैं तो उस समय लिखने में बहुत ज्यादह व्यस्त था। परन्तु वह आदमी बहुत सीधा सादा था। इसलिए उसके श्रद्धा भरे विचारों को मैं दुःखाना नहीं चाहता था और उसकी सब बातें शक्ति के अनुसार मन से सुन लिया करता था।

लेकिन मै जिन दिनों की बातें यहां लिख रहा हूं, उन दिनों तो सभी कुछ बदल गया था। इन्ही दिनो में वह एक दिन शाम के समय आया। उसके आने से दु:ख होने की वजाय मुझे आनन्द हुआ और मैंने उसका उचित आदर भी किया। इस समय उस पर से पागलपन का पर्दा मुझे हटा हुआ लगा। मुझे मालुम हुआ कि मैं जिस आदमी का इतने आनन्द के साथ आदर कर रहा हू, वह मेरी वनिस्पत किसी भी दृष्टि से कम नही है वलिक उसका मेरा नजदीकी रिश्ता है। पहले जब वह आता तब मन को दु:ख हुआ करता और मैं अपना समय वेकार गया हुआ समझता। परन्तु इस वक्त वह बात नही थी। अब तो मेरा मन झूम रहा था और लग रहा था कि बिना वजह दु:ख और तकलीफ पैदा करने वाले झूठ के जाल से मै छूट गया हूं।

बरामदे के कठड़े के पास खड़ा होकर रास्ते से आने जाने वाले लोगो को मैं देखा करता था। हर एक के चलने का तरीका, उसके शरीर का गठन, नाक, कान आदि अङ्ग देखकर मेरा मन 'थक' ही जाता और मालुम होता कि ये सब बाते ससार सागर की लहरों को पीछे ढकेल रही है। लड़कपन से मै ये सब बातें सिर्फ अपनी आंखो से ही देखता आ रहा हू। लेकिन अब ज्ञान-शक्ति की सहायता से मैने देखना शुरू किया। एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर हंसते-हसते जाने वाले दो जवानो को देखता तो मैं उसे कोई छोटी बात न समझ कर यह समझता कि मैं आनन्द के सनातन और अथाह झरने के तल को देख रहा हूं, जिसके द्वारा सारे ससार मे राज के आगिन हिमकण फैला करते हैं।

मनुष्य के जरा भी हिलने-डुलने पर उसके अङ्ग और शिराओ का काम शुरू होता है। इनका यह खेल मैंने कभी खास तौर से नही देखा था। अब तो हर वक्त उनकी लीलाओ के अनेक भेद मुझे सब ओर दीखने लगे और उससे मैं मोहित हो गया, पर इसका कोई आजाद अस्तित्व मुझे नही दिखा, लेकिन सारी इन्सानी दुनिया मे, हरेक घर में 'और उनकी कई तरह की जरूरतो तथा कामो मे जो अचम्भे भरा सुन्दर नाच हमेशा होता रहता है, उसी का यह भी एक हिस्सा है, ऐसा मालूम होने लगा।

एक दोस्त दूसरे दोस्त के खुशी-रंज का हिस्सेदार होता है। मा अपने बच्चो को प्यार करती है, उसे कधे पर बिठला कर खिलाती है। एक गाय दूसरी गाय के पास खडी हो जाती है और चाटती है। इन सब घटनाओं को देखकर इनके पीछे रहा हुआ 'अनन्तत्व' मेरे सामने आ खड़ा होता है। उसका मुझ पर ऐसा असर होना है कि मैं घायल हो जाता हूं। इस समय के बारे मे आगे जाकर मैंने एक जगह पर लिखा था कि 'मेरे हृदय ने एकाएक अपने दरवाजे कैसे खोल दिये और असीम ससार को हाथ मे हाथ मिलाये हुए किस तरह भीतर प्रवेश होने दिया, यह

मेरी समझ में नही आया।' यह कवि का अतिबोलना नही था, मैं तो अपने मन को जो ठीक लगा और मेरी जानकारी में जो आया वह सब ज्यों का त्यों उचित शब्दों में सामने आ गया।

इस अपने को भूल जाने वाली दशा में मैं कई दिनों तक रहा और इसका मीठा अनुभव लेता रहा। फिर मेरे भाई ने दार्जिलिंग जाने का इरादा किया 'अयं विशेष:' (यह विशेष है) यह भी विशेषता ही हुई, यह जानकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मुझे मालुम होने लगा कि जिस गहरी बात की मुझे सदर रास्ते पर रहते समय जानकारी हुई, वही बात हिमालय की ऊँची चोटी पर मुझे और भी अच्छी तरह से देखने को मिलेगी। उसके भीतर की मुझे गहरी जानकारी होगी और नहीं तो मेरी नयी दृष्टि को हिमालय कैसा दीखता है, इसी का मुझे ज्ञान होगा।

लेकिन मेरी जानकारी वहम-भरी निकली। जीत की देवी ने मेरे उस सदर रास्ते वाले घर को ही जयमाला पहिनाई थी। पहाड़ की चोटी पर चढकर जब मैं आस पास देखने लगा तो पलभर में मेरी नयी दृष्टि खत्म हो गई और यह बात भी तुरन्त ही मेरे ध्यान में आ गई। बाहरी दुनिया से सच को ज्यादह पाया, मेरी आशा ही गलत थी। मैंने जो आशा की थी, वह एक तरह से पाप ही किया था। पर्वत की चोटियां भले ही आकाश को छू रही हों, लेकिन मुझे दिव्य दृष्टि देने लायक उनके पास कुछ नही था। जो देने वाला है, वह तो किसी भी जगह गंदी गलियो तक में पल भर की देर किए बिना सनातन संसार की दिव्य दृष्टि का दान कर सकता है।

पेड़ों और पौधों में मैं भटका। धबधबों के पास बैठा। उनके पानी में इच्छानुसार डुबकियां लगाईं। बादल रहित आकाश में सोनगगा की शोभा देखी, लेकिन वह चीज मुझे नही मिली। मुझे उसकी जानकारी हो गई थी। पर वह अब दीखती नही थी। हीरे के रत्न के टुकड़े की ओर मैं देख ही पाया था कि उसकी पेटी का ढक्कन बंद हो गया। मैं तस्वीर की तरह बंद पेटी की ओर देखता रहा। उस पेटी की नक्काशी सुन्दर और लुभावनी होने पर भी मेरी नजर में वह पेटी खाली थी, लेकिन मेरी इस वहम-भरी समझ से उसका कोई नुकसान न हुआ।

मेरी 'प्रभात-संगीत' रचना पूरी हो गई थी। दार्जिलिंग में लिखी हुई 'प्रतिध्वनि' नाम की कविता ही उसकी आखरी कविता थी। लोगो को मालुम होने लगा कि इसमे जरूर कुछ न कुछ राज छिपा है। इसी पर एक बार दो दोस्तो में आपसी होड हुई। सन्तोष की बात इतनी ही थी कि वे [illegible] पास ही अर्थ [illegible] ने के लिए आये, परन्तु उस कविता का राज बताने [illegible] मैं [illegible] रहा। अरे रे! वे कैसे दिन थे, जब मैं कमल [illegible] बनाया करता था, वे दिन कहां गये?

क्या कोई आदमी कुछ बात समझाने के लिए कविता लिखा करता है ? बात यह है कि इन्सान के दिल को जो लगता है, वह कविता मे बाहर निकलना चाहता है। यदि कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमे कुछ नही समझता, तो उस समय मेरी बुद्धि पथरा जाती है। फूल को सूंघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी समझ में कुछ नही आता, तो उसका यही जवाब हो सकता है कि इसमे समझने जैसा है भी क्या ? यह तो केवल झलक मात्र है। इस पर भी यदि यही कहे कि 'हां' यह तो ठीक है, मैं भी जानता हूं, पर इसका मतलब क्या है ? और इसी तरह बार-बार सवाल करने लगे तो उससे छुटकारा पाने के लिए दो ही रास्ते हैं—या तो उस बारे में चर्चा ही बदल दी जाय या वह महक फूल में ससार के आनन्द का धारण किया हुआ आकार है, यह कह कर उस बारे में ज्यादह गभीरता पैदा कर दी जाय।

शब्द अर्थ वाले होते हैं। इसीलिए कवि यमक और छद के साचे मे उन्हे ढालता है। उसका मकसद शब्द को अपने दबाव मे रखने का होता है, जिससे उसका असर न बढ सके और मन की भावनाओं को अपना रूप जाहिर करने का मौका मिले। मन की भावनाओं को इस तरह जाहिर करना कुछ खास तत्वो को बताना नही है, न शास्त्रों की चर्चा है, न नीति के तत्वो की सीख ही है। वह तो आसू या हसी वगैरह भीतरी रिश्तो वाली बातों की तसवीर है। शास्त्र या तत्वों की जानकारी को काव्य से उन्हें फायदा होना ही चाहिए। ये तत्वो की जानकारी आदि काव्य की सत्ता के कारण नही है। नाव मे बैठकर जाते समय यदि मछलियां मिलें और उन्हे पकड़ सकें तो यह पकड़ने वाले की खुशकिस्मत, लेकिन इस वजह वह नाव मछली पकड़ने वाली नाव नही कहला सकती और न उस नाव के मांझी को मछली पकड़ने का धंधा न करने के कारण कोई दोष ही दे सकता है।

'प्रतिध्वनि' नाम की कविता लिखे इतने दिन हो चुके हैं कि वह अब किसी को नजर मे भी नही आती और न अब कोई उसका गहरा मतलब समझने के लिए ही मेरे पास आता है। उसमें दूसरे गुण दोष भले ही कुछ हों, पर मैं पढने वालो से यह भरोसे के साथ कह सकता हूं कि उस कविता के बनाने मे मेरा मकसद किसी राज को बताना नही था और न अपना पडिताईपन जताने का ही था। लेकिन बात तो यह थी कि मेरे मन में एक तरह की छटपटाहट थी, यही कविता के रूप में सामने आई और कोई दूसरा नाम नजर में न आने,के कारण उसका 'प्रतिध्वनि' नाम रख दिया।

संसार के बीच में रहे हुए झरने के संगीत का बहाव बहकर दुनिया में फैलता है और उसकी अनुगूंज हमारे प्रियजनो और आसपास की सुन्दर चीजों से टकराकर दूर रहने वाले हमारे मन में वापस लौट आती है। मेरे ऊपर कहे अनुसार हम जो प्यार करते हैं, वह उन चीजों पर नही करते, जिनमे अनुगूंज पैदा होती है,

किन्तु अनुगूंज पर ही शायद करते हैं। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक समय हम जिस चीज को देखना तक नहीं चाहते दूसरे समय में वही चीज हमारे मन पर ज्यादह असर जमा लेती है। हम उसके गुलाम बन जाते हैं और वह हमारी देवता।

इतने दिनो तक मैं ससार का बाहरी रूप ही देखा करता था और इस कारण उसका सब जगह फैला हुआ आनन्द का रूप मुझे नही दीखता था। इसके बाद एक बार उजाले की किरण अचानक चमकी और उसने सारे ससार को चमका दिया। उस समय से मुझे यह संसार अगिन चीजों का ढेर मात्र या उसमें होने वाले कामो का एक बड़ा सग्रह मात्र न दीखकर वह एक पूरी वस्तु दीखने लगा और तब मे मुझे मालूम होने लगा कि यह अनुभव मुझसे यह कह रहा है कि ससार की गहराई में से गाने के बहाव को पैदा करने का वह समय और क्षेत्र फैल रहा है और वहा से आनन्द की लहरो की तरह उसकी अनुगूंज निकल रही है।

जब कोई अच्छा चतुर कवि हृदय के भी हृदय में से संगीत का सुर निकालता है, तब उसे असली आनन्द मिलता है और वही गाना जब सुनने को मिलता है तो वह आनन्द दुगना हो जाता है। इस तरह कवि की रचना आनन्द की बाढ में बहकर उसके पास वापस आती है और तब वह खुद भी उस बाढ़ में डूब जाता है, ऐसा होने पर बहाव के मकसद की उसे जानकारी हो जाती है। पर वह इस तरीके से होता है कि उसका वर्णन नही किया जा सकता है। ज्यों-ज्यों इस तरह की जानकारी होती जाती है त्यों-त्यों आनन्द भी बढता जाता है और आनन्द के बहाव के साथ-साथ उसके असीमित मकसद की ओर अपने दुःख, तकलीफ वगैरह को एक ओर रख वह खुद जाने लगता है। सुन्दर चीज के दीखते ही उसको पाने के लिए मन में जो छट-पटाहट होने लगती है, उसकी भी यही वजह है।

बेहद मे निकल कर हद की ओर बह कर जाने वाले बहाव को ही 'सत्य' कहा जाता है। वह तय किये कायदो द्वारा पाबन्द किया जाता है। बेहद की ओर लौट कर आने वाली बहाव की अनुगूंज ही 'सुन्दरता' और 'आनन्द' है। इन दोनो को छूना या कसकर पकड़ रखना बहुत मुश्किल है। इसलिए यह हमें पागल बना देते है। प्रतिध्वनि नाम की कविता में मैंने यही बात साबित करने की कोशिश की है। मेरी यह कोशिश नाकामयाब हुई या अपने कहने को समझा न सका, इस पर आश्चर्य करने की कोई जरूरत नही है, क्योंकि उस समय मुझे ही मेरी बात की साफ जानकारी नही हुई थी।

कुछ सालों बाद बड़े हो जाने पर अपने 'प्रभात संगीत' के बारे में मैंने एक लेख लिखा था। पढ़ने वालो की मंजूरी लेते हुए मैं यहा उस लेख का सार देना ठीक समझता हूं—

'एक खास उम्र में यह मालूम होने लगता है कि दुनियां में कुछ नही है। जो कुछ है, सब अपने भीतर है। जिस तरह दांत निकलते वक्त बच्चा यह समझता है कि सब चीजें अपने मुंह में रखने के लिए ही हैं, उसी तरह जब हृदय जागता है, तब वह भी सारी दुनियां को लपेट कर छाती से लगाने के लिए हाथ पसारता है। छोड़ने और रखने का ज्ञान उसे पीछे धीरे-धीरे होता है। मन में पसरे हुए बादल सिकुड़ने लगते हैं और उसमें से गर्मी पैदा होती है और वह गर्मी फिर आसान तरीके से दूसरो को तपाने लगती है। सारे संसार को पाने की इच्छा करने से कुछ भी नही मिलता है। जब अपनी सारी ताकतों को इकट्ठा कर किसी एक चीज पर, फिर वह कुछ भी क्यों न हो, अपनी इच्छा के चारों ओर चक्कर लगाती है तब 'बेहद' तक पहुंचने का दरवाजा दीखने लगता है। 'प्रभात संगीत' के द्वारा पहले ही मेरा भीतरी मन बाहर प्रकट हुआ था, इस कारण ऊपर कहे हुए तरीके के एक बिन्दु पर होने के कोई निशान उसमें दिखलाई नही पडते।

यह पहले सामने आने का चारों ओर फैला हुआ आनन्द खास वस्तु से हमारी जानकारी करा देता है। जब कोई तालाब लबालब भर जाता है तब उसका पानी निकलने का रास्ता ढूंढता है। फिर वह पानी एक जगह पर न रहकर चारों ओर बहने लगता है। इस तरह आगे बढने वाला, सनातन प्रेम, पहले प्रेम की बजाय सिमटा हुआ कहलाता है। पहले प्रेम का कार्य क्षेत्र एक खास स्वरूप का होता है और फिर वह हरेक हिस्से और छोटे हिस्सों में से पूरी न टूटने लायक वस्तु की खोजने की इच्छा करता है और इस तरीके से वह प्रेम असीम की ओर खिंचने लगता है। आखिर में उसे जो चीज मिलती है, वह हृदय का पहले वाला असीमित आनन्द न होकर अपने से दूर रहने वाला असीम सत्य होता है उसी में वह प्रेम समा जाता है और इस तरह अपनी ही इच्छा में से पूरा 'सत्य तत्व' उसे मिलता है।

मोहित बाबू ने मेरी जो कविताएं छापी है, उनमें 'प्रभात संगीत' का शीर्षक 'निष्क्रमन' रखा है, क्योंकि अंधकार में डूबा 'हृदय भवन' में से खुले संसार में आने के समाचर इन्ही कविताओं से जाहिर हुए है। इसके बाद इस मुसाफिरी दिल मे कई तरह से और अलग-अलग दशाओं में धीरे-धीरे ससार से जानकारी की और उससे प्रेम का रिश्ता जोड़ा है। हमेशा बदलने वाली चीजों की आगे की सीढियो पर चढ़ जाने के बाद आखिर में यह मुसाफिर असीम तक जा पहुंचेगा। इसे इस अनिश्चितता का धुंधलापन न कहकर पूर्ण सत्य में मिल जाना ही कहना ठीक होगा।

मैं अपनी बहुत ही छोटी उम्र मे बिल्कुल सीधी-सादी तौर पर और प्यार के साथ ससार से बतियाता था। उससे मैंने दोस्ती कर ली थी, जिसके आनन्द का मुझे बहुत ही अनुभव हुआ है। मुझे अपने बगीचे के नारियल के हरेक पेड़ अलग-अलग आदमी की तरह मालूम होते थे। नार्मल स्कूल से जब मैं शाम को

लौटकर आता और अपनी मचिया पर जाता, तब आसमान में नीले और काले रंग के बादल देखते ही मेरा मन किस तरह बेहोश हो जाया करता था, यह मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। रोजाना सुबह जग कर ज्यों ही मैं आंख खोलता त्यों ही मुझे मालूम होता कि प्यार से जगाने वाला जगत खेल में अपना साथी बनाने के लिए मुझे बुला रहा है।

दोपहर का तपता हुआ आसमान, आराम के शांत समय में काम में डूबे संसार से उठाकर मुझे किसी दूर की तपोभूमि में ले जाता था और रात का घना अंधेरा रूपी राक्षस रास्ते के दरवाजे खोलकर सात सागर तेरह दरिया पार कर सारी होनी-अनहोनी बातों को पीछे छोड़ते हुए मुझे आपकी ठेठ आश्रम भूमि में ले जाया करता था।

आगे जाकर जवानी का प्रभातकाल हुआ। मेरा प्यासा मन भूख से बेचैन होकर रोने लगा। तब भीतर-बाहर के इस खेल में एकाएक बाधा सामने आई। मेरा 'जीवन सर्वस्व' दु:खी मन के चारों ओर चक्कर मारने लगा। उसमे भंवर उठने लगे और आखिर मे अपनी जिन्दगी के सर्वस्व का ज्ञान उसमें समा गया। दु:खी होकर हृदय अपना हक जमाने लगा। भीतर बाहर की कठिनाई बढ़ने लगी। उससे अभी तक जो संसार के पदार्थों में हिल-मिल कर बातचीत किया करता था, वह बंद हो गया और इससे मुझे जो दुःख हुआ उस दुःख का मैने सांध्य-गीत में वर्णन किया है। आगे जाकर 'प्रभात संगीत' में इस विघ्न की किले बन्दी को तोड़ा। इसे तोड़ने के लिए मुझे किस चीज से उस पर चोटें करनी पड़ी, यह मुझे मालूम नहीं है। परन्तु विघ्न को किलेबन्दी के टूटने से मेरी खोई चीज मुझे फिर मिली। उस चीज का फायदा मुझे सिर्फ पूरी जानकारी के रूप में ही नहीं हुआ। किन्तु सांझ के समय के वियोग के कारण ज्यादह गहरा और पूरी बदली हुई स्थिति में मुझे उसका लाभ हुआ।

इस तरह मेरी जिन्दगी रूपी किताब के पहले हिस्से को खत्म माना जा सकता है। इस हिस्से के मिलन-विरत और फिर से मिलन इस तरह से तीन भाग हैं लेकिन वास्तविकता के अनुसार यही कहना ज्यादह ठीक होगा कि उस किताब के पहले हिस्से का अभी अंत होना बाकी है, वही विषय आगे भी चालू रखना पड़ता है। उनकी उलझनें सुलझानी पड़ती हैं। उनका संतोष कराने वाला समापन करना पड़ता है। मुझे तो यह लगता है कि हरेक आदमी अपनी जिन्दगी रूपी किताब का एक हिस्सा खत्म करने के लिए संसार में उतरा करता है।

संध्या संगीत के बनाने के समय में लिखे हुए गद्य लेख 'विविध प्रवन्ध' के नाम से छपे और 'प्रभात संगीत' के रचनाकाल में लिखे हुए गद्य लेख आलोचना के नाम से। इन दोनों गद्य लेखमालाओं की विशेषता में जो फर्क है वह इन दोनो संगीतों के रचनाकाल के बीच में मेरे में जो जो बदलाव हुए उनका साफ संकेत है। □

राजेन्द्रलाल मित्र

इन्हीं दिनों में मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र के मन मे बहुत ऊंचे-ऊंचे विद्वान् लोगों की परिषद बनाने का विचार जागा । बंगला भाषा मे परिभाषिक शब्द तय करना, तथा दूसरे रास्तों से इस भाषा की उन्नति करना ये दो इस परिषद के खास काम थे । फिलहाल 'वंग साहित्य परिषद्' जिस रूप से काम कर रही है. हमारी परिषद् का काम इनसे कुछ अलग था ।

डा० राजेन्द्रलाल मित्र को भी यह विचार अच्छा लगा और बड़े जोश के साथ उन्होने इस विचार का स्वागत किया । इस परिषद् की थोड़ी ही जिन्दगी में ये ही उनके सभापति भी थे । हमारा इस परिषद् के सदस्य होने के लिए प्रार्थना करने के लिए मैं श्री विद्यासागर के पास गया और परिषद् के मुद्दे तथा आज तक बने सदस्यों के नाम मैंने उन्हें पढ़कर सुनाये । मेरी बात ध्यान से सुनकर उन्होंने मुझसे कहा कि यदि तुम मेरा कहना मानों तो मैं तुमसे कहता हूं कि तुम हम लोगों को छोडो । बडे-वड़े पत्थरों को परिषद् मे रखकर तुम कुछ भी न कर सकोगे क्योंकि वे लोग न तो कभी एकमत होगे और न उनका आपस मे कभी प्रेम ही होगा, ऐसा उपदेश देकर सदस्य बनाना नामजूर कर दिया । बंकिम बाबू सदस्य हो गये, लेकिन उन्होंने कभी परिषद् के काम में खास रुचि नही ली और न कभी उत्साह ही बतलाया ।

सच बात तो यह है कि जब तक परिषद् चलती रही, तब तक राजेन्द्रलाल मित्र ही अकेले उसका सब काम करते रहे । हमने भूगोल सम्बन्धी खास शब्दो के तय करने का काम पहले-पहल हाथ मे लिया । इन शब्दो की सूची को डा० रजेन्द्र-लाल ने खुद तैयार की और फिर छपवा कर सभी सदस्यों के पास भेजी । हमारा एक यह खयाल था कि देशों के नाम, वहां के रहने वाले जिस तरह बोलते हैं, बंगला में उसी तरह लिखे जांय ।

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की कही हुई बात ठीक उतरी । बडे आदमियों के द्वारा कोई भी काम इस परिषद का न हो सका और ज्योंही अंकुर फूटने के बाद पत्ते निकलने का वक्त आया, त्योंही परिषद की जिन्दगी भी खत्म हो गई । डा० राजेन्द्रलाल सब बातो मे माहिर थे । हरेक बात के वे जानकार थे । उस परिषद के कारण ही राजेन्द्रबाबू से जानकारी होने का फायदा मुझे मिला और इस फायदे

से परिषद में किये हुए श्रम को मैंने सफल समझा। मुझे अपनी जिन्दगी मे बहुत से बगाली पंडितो की मुलाकात का मौका मिला है लेकिन राजेन्द्रलाल मित्र के समान अपनी चतुराई की छाप मुझ पर कोई न जमा सका।

माणिक टोला मे 'कोर्ट आफ वार्डस' के दफ्तर में जाकर मैं उनसे मिला करता था। जब-जब मैं जाता, उन्हें लिखने-पढ़ने के धंधे मे ही लगा पाता था। अपनी जवानी की उद्दण्डता के कारण उनका बेशकीमती वक्त लेने में मैं बिल्कुल ही नही हिचकिचाता था और न कभी मुझसे मिलने मे उन्हें दुःखी होता देखता ही था। मुझे आता देखकर वे अपना काम एक ओर रख देते थे, और मुझसे बातचीत करने लगते थे। वे कोई गहरे विषय को उठाते और उसी की चर्चा किया करते थे। उनके मीठी और पंडिताई बातचीत से प्रभावित होकर ही मैं उनके पास जाया करता था दूसरे किसी भी इन्सान की बातचीत में अलग-अलग विषयो पर इतने गहरे विचारों का सग्रह मुझे नही मिला। उनकी बातचीत की मोहिनी से खुश होकर मैं उनका कहना सुना करता था।

पढाई की किताबो का निर्णय करने वाली समिति के वे एक सदस्य थे ऐसा मुझे याद है। जांच-पड़ताल के लिये उनके पास जो किताबें आती उन्हे वे पूरा पढते और पेन्सिल से निशान और टिप्पणी लिखा करते थे। कभी-कभी वे इन्ही किताबों में से किसी किताब पर मुझसे चर्चा भी करते। चर्चा का विषय खास तौर पर बगला की रचना और भाषाशास्त्र होता था। इन विषयो के बारे में मित्र बाबू की बातचीत से मुझे बहुत फायदा हुआ। ऐसे बहुत ही थोड़े विषय थे, जिनका उन्होंने मेहनत से अध्ययन नही किया हो। वे जिस विषय को लगन से पढ़ते उसको समझने की बड़ी अच्छी कला उन्हे थी।

हमने जो परिषद बनाने की मेहनत की थी, उसके कामो के लिए दूसरे सदस्यो पर निर्भर रह कर यदि राजेन्द्र बाबू पर ही सब काम छोड़ दिया जाता, तो आज साहित्य परिषद ने जो काम हाथ मे ले रखे है, वे सब उस एक ही आदमी के कारण बहुत अच्छे हालात में पहुंचे हुए साहित्य परिषद को मिलते।

राजेन्द्रलाल पंडित थे और जानकार भी। उनके शरीर की बनावट भी अच्छी थी। चेहरे पर एक तरह का अनोखा तेज था। बातचीत में बड़े माहिर थे। लेकिन अपने पंडित होने के गर्व का कभी दिखावा नही होने देते थे और मेरे जैसे छोकरे से भी गहरे विषयों पर चर्चा करने में कभी अपनी बेइज्जती नही समझते थे। अपने बड़प्पन का ख्याल न रखकर मुझसे बर्ताव करते थे। उस बर्ताव का मैंने उपयोग भी किया और अपने पत्र 'भारती' के लिए लेख भी लिखाया। उनके समय मे उनकी उम्र के बहुत से बड़े-बड़े आदमी थे, लेकिन उनसे जानकारी होने की मुझ में

हिम्मत नही हो पाती थी और यदि हो भी जाती तो राजेन्द्र बाबू के बराबर मुझे उनसे बढ़ावा कभी नही मिलता।

जब वे 'म्युनिसिपल कार्पोरेशन' और यूनिवर्सिटी सिनेट' के चुनाव मे खड़े होते तो दूसरे उम्मीदवारों के चेहरे पर हवाईया उड़ने लगती और डर से उनकी छाती धड़कने लगती थी। उस समय किष्ण दास पाल चतुर मुत्सद्दी थे और राजेन्द्र लाल मित्र जंग के हिम्मती सिपाही थे।

'रायल एशियाटिक सोसायटी' किताबों को सही करने और छपाने का काम किया करती थी। इस काम के लिए सिर्फ शारीरिक मेहनत करने वाले कई पंडितों को लगाना होता था। इसी कारण कई मन्दबुद्धि के ईर्ष्यालु लोग मित्र बाबू पर यह आरोप लगाते थे कि सही करने का सब काम पड़ितों से कराकर राजेन्द्र बाबू खुद नाम कमाने को तैयार रहते हैं।

किसी काम की जवाबदारी सिर पर उठाकर उसकी कामयाबी का नाम लेने वाले लोगों को केवल मदिर की मूर्ति समझने वाले आदमी कई बार समाज मे दिखलाई पड़ते है। ऊपर कहे हुए लोग भी इसी तरह के थे। शायद गरीब बेचारी कलम को भी यदि वाणी होती तो अपने भाग्य में काली स्याही और लिखने वाले की तकदीर मे यश की सफेद झडी देखकर खेद प्रकट करने का मौका आया होता।

आश्चर्य है कि मौत के बाद भी इस असाधारण आदमी को उसके देशवासियो की ओर से जैसा चाहिये, आदर नही मिला। हो सकता है इसका एक कारण यह भी हो कि उनकी मौत के थोड़े दिनो बाद ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की मृत्यु हुई थी और उससे सारा देश शोक में डूब गया था। इस कारण देश को राजेन्द्रलाल के प्रति आदर प्रकट करने का मौका ही न मिला हो। दूसरा भी एक कारण हो सकता है कि उनके सब लेख अक्सर दूसरी भाषाओं मे होने के कारण उनका रिश्ता लोग गगा से जैसा चाहिये, नही हो सका हो।

□

कारबार

कलकत्ते के सदर रास्ते पर रहना छोड़कर फिर हम लोग सब समुद्र के पश्चिम किनारे के 'कारवार' शहर में रहने को चले गये। बम्बई के दक्षिणी ओर कनड़ा जिले का यह शहर खास जगह है। संस्कृत साहित्य में मलय पहाड़ के बीच के जिस प्रदेश का बार-बार वर्णन हुआ है, उसी का यह भी एक हिस्सा है। यहां बेलदोना की बेलें और चन्दन के पेड़ बहुत मिलते हैं। उन दिनों मेरे बड़े भाई वहां जज थे।

इस छोटे से बंदर को टेकरियो ने घेर रखा है। यह बंदर ऐसे कोने मे और सूनसान जगह मे है कि वहाँ बंदर होने का कोई निशान तक नही दिखता। आधे चाद से चेहरे वाला किनारा ऐसा मालूम होता है, मानो उसने सागर पर अपनी बाहुएं फैला रखी हों। इस बालू रेत वाले विशाल किनारे पर नारियल, ताडी आदि के पेडों का जंगल ऐसा मालूम होता है मानो अनंत को फटकारने के यत्न मे लगा हो। इस जंगल में काली नदी बहती है जो इसी किनारे पर आकर सागर मे मिल गई है। यह नदी सागर में मिलने के पहले दोनों किनारों पर की टेकरियो के बीच में से छोटे से पाट मे बहती हुई आई है।

मुझे याद है कि एक दफा चादनी रात में हम लोग छोटी सी नाव में बैठकर नदी के ऊपर की ओर गये थे। रास्ते में हमें शिवाजी का एक पहाडी किला मिला। उसके नीचे हम लोग रुके और किनारे पर उतर कर जरा आगे बढे। एक किसान का झाड झूड कर साफ किया आँगन मिला। वहाँ एक जगह पसन्द करके हमने साथ वाले खाने-पीने के सामान पर हाथ साफ किया। लौटते वक्त नदी के बहाव के साथ-साथ हमने अपनी नांव छोड़ दी। पूरी तरह से स्थिर टेकरियों, जंगलों और शाति से बहने वाली काली नदी पर चांद उजाला रूपी हथियार फेंक कर रात ने अपना राज जमा रखा था।

नदी के मुंह तक जाने में हमें बहुत वक्त लगा। इसलिए सागर के रास्ते से न लौट कर हम वहां नाव से उतर पड़े और फिर बालू मिट्टी वाले रास्ते से घर को लौटे। उस समय रात बहुत बीत चुकी थी। सागर शात था। उस पर एक भी लहर नहीं उठती थी। हमेशा हवा से हिलकर आवाज करने वाले ताड़ के पेड़ भी इस समय चुप-चाप थे। विशाल बालू रेत के आजू-बाजू की पेड़ की क्तारो की छाया

भी अडिग थी और क्षितिज से मिली हुई काले रंग की टेकरियां गोल रूप में आकाश की छाया में आराम से नींद ले रही थी।

सभी ओर फैली हुई चुप्पी और स्फटिक से चाद के उजाले में हम मुट्ठी भर इन्सान भी मुंह से एक शब्द भी न निकालते हुए चुपचाप चले जा रहे थे। हमारे साथ केवल हमारी छाया जरूर थी। हम घर पहुंचे और बिस्तर पर पड़े रहे, लेकिन मुझे नींद ही नहीं आती थी। अपने से भी ज्यादह गम्भीर विषय में मेरी नींद शायद समा गई थी। उस समय मैंने एक कविता बनाई। यह कविता बहुत दूर सागर के किनारे की रात से एकमेक हो गई है। जिस याद ने उस काव्य की रचना की, मेरे पढ़ने वाले उससे जानकार नहीं हैं। इसलिए कह नहीं सकता कि यह कविता पाठकों के मन से किस तरह भिड़ सकेगी। मोहित बाबू ने जो मेरे काव्यों का संग्रह प्रकाशित किया था शायद इसी डर से उसमें भी इस कविता को उन्होंने जगह नहीं दी थी। मैं अपनी "जीवन-समृति" में उसे जगह देना उचित समझता हूं और पढ़ने वाले भी ऐसा ही समझेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

यहां पर यह लिखना भी ठीक होगा कि भावनाओं से जब दिल भर जाता है, तब कलम से कुछ बाहर निकल ही पड़ता है। लेकिन इतने की कारण से वह लिखा हुआ बहुत बढ़िया नहीं माना जा सकता। अपने जो कुछ लिखते और बोलते है, उस पर मन के विकारों की छटा फैलती रहती है। बाहर के योग्य मन के भावों से अलग रहना कभी ठीक नहीं हो सकता। इसी तरह मन के भावों में डूबे रहना भी ठीक नहीं है। यह कविता बनाने के लिए पोषक नहीं हो सकता। कविता रूपी चित्र में रंग भरने के लिए याद रूपी तूलिका कूची ही समर्थ है। मन के भावों के पास सानिध्य से कल्पना जकड़ जाती है और उस पर दवाव आकर पड़ जाता है। मन के विकारों के बंधन को तोड़ कर उन्हें दूर किए बिना कल्पना शक्ति आजादी से विहार नहीं कर सकती। यह नियम केवल कविता पर ही लागू नहीं है, बल्कि हरेक कला के लिए भी यही नियम है। कला मे कुशल इन्सान को यत्न करके थोड़ी बहुत अलिप्तता पा लेना जरूरी है। अपनी कला के साधारण नियमों के गुलाम हो जाना उचित नहीं है।

□

प्रकृति प्रतिशोध

कारवार मे रहते हुए ही मैंने 'प्रकृति प्रतिशोध' नाम की नाटिका लिखी। इसका नायक एक संन्यासी था। सभी इच्छाओं और खुशी की चीजों से अलग होकर कुदरत पर जीत हासिल करने के यत्न मे था। उसे भरोसा था कि झूठ ससार के बंधनों को तोड़ने से आत्मा का असली रूप और ज्ञान मिल सकता है। इस नाटिका की नायिका एक बालिका कुमारी थी। यह उस संन्यासी को फिर अपने पहिले वाले आश्रम मे खीच लाई। ईश्वर के साथ वाले वर्ताव से उस संन्यासी को अलग कर फिर से इन्सानी प्यार के बन्धन और दुनियां में ला पटका। पहले वाले आश्रम में लौट आने पर उस सन्यासी को मालूम पडा कि 'छोटे मे ही बडा मिलेगा, आकार में निराकारपन, समाता हुआ दिखाई देगा और आत्मा की आजादी, प्रेम की राह मे ही मिलेगी। असल में देखा जाय तो प्यार के उजाले में ही दुनियां की बेडियां ईश्वर मे समाती हुई अपने को दिखलाई देंगी।

ससार की सुन्दरता खयाली हिरण-जल नही है। इसमें ईश्वर की खुशी पूरी तरह झलकती है। इस खुशी में खोकर इन्सान किस तरह खुद को भूल जाता है, इसका अनुभव पाने के लिए 'कारबार' का समुद्री किनारा एक अच्छी जगह है। जब ससार अपने शासन रूपी जादू से अपने को जताता है तब ईश्वर की अनतता हमसे छुपी नही रह सकती। उस समय यदि संसार की छोटी वस्तुओं के साथ रिश्ता होते ही उनकी सुन्दरता से मन खुश हो जाय तो उसमे अचरज ही क्या है ? छोटे से सिंहासन पर बैठे हुए ईश्वर की जानकारी कुदरत ने संन्यासी को प्रेम की राह द्वारा करा दी। 'प्रकृति प्रतिशोध' मे दो तरह की, एक दूसरे के खिलाफ, तसवीरें पेश की गई हैं। एक ओर रास्ता चलने वाले राहगीर और गावों के लोगो की तसबीर, दूसरी ओर ऊपर कहे हुए सन्यासी की राह चलने वाले राहगीर और गाव के लोग किस तरह के होते हैं, यह बात सब जानते है। वे अपने छोटे काम में लगे रहने वाले और अपने घरेलू कामो के सिवाय दूसरे कामो का रत्ती भर भी जिन्हे खयाल नही है, ऐसे होते हैं। ये लोग तकदीर से मिले हालातों में संतोष करते हैं और अपने बाल-बच्चे ढोर-ढागर, खेती-बाड़ी उद्योग धन्धे मे ही जुटे रहते हैं। इस तरह ससार की वस्तुओं मे प्रेम रखकर उनमे अपनापन कायम करने वाले इन लोगों की तसबीर एक ओर, और दूसरी ओर सब कुछ छोड़ने में लगे और अपने ही खयाल से पैदा व पूर्णता पाये ईश्वरत्व की ओर अपना सब कुछ तथा खुद को अर्पण करने के लिए तैयार संन्यासी

की तसवीर। इस तरह एक-दूसरे के खिलाफ दो तसवीरें उस नाटिका मे दिखाई गई थी। आखिर में जाकर नाटिका मे यह दिखलाया गया है कि सीमित और अनन्त के बीच में रहे हुए फर्क पर प्यार का पुल बांधा गया और उसके कारण अचानक तौर से दोनो का मिलाप हो गया। संन्यासी और गृहस्थी आपस में छाती से छाती लगाकर मिले। ऊपरी तौर पर दिखलाई पडने वाली सीमित की साररहीनता और अनत का सूखापन दोनो ही खत्म हो गये।

मेरे अपने अनुभव की भी अक्सर यही दशा है। सिर्फ उसके स्वरूप मे तनिक सा फर्क है। बाहरी दुनिया से रिश्ता तोड़कर दुनिया से बहुत दूरी पर मौजूद गहरी गुफा में जाकर मैं बैठ गया। वहां इसी तरह का शरीर भाव का नाश करने वाली किरण आ पहुची और उसने मुझे फिर दुनियां से मिला दिया। 'प्रकृति प्रतिशोध' नाटिका मेरे भावी जीवन के साहित्य-व्यापार की भूमिका ही थी, क्योंकि इसके आगे मेरे सब लेखो मे अक्सर इसी विषय की चर्चा हुई है। अर्थात् सीमित मे असीमित खोजना और आनन्द पाना ही उन लेखो का लक्ष्य रहा है।

'कारबार' से लौटते हुए रास्ते मे जहाज पर 'प्रकृति-प्रतिशोध' के लिए मैंने कुछ पद तैयार किए। पहला ही पद पहले मैंने गाया, फिर उसे लिख डाला उस समय मुझे बहुत खुशी हुई।

उस पद का भाव इस तरह है कि—सूर्य उगने वाला है। फूल, फूल रहे है। ग्वालों के लड़के गायों को चराने ले जा रहे है। जंगल की छटा सुन्दर लग रही है, लेकिन ग्वालो के लड़कों को उससे खुशी नही हो रही है और न वे गायो को चराते हुए छोड़कर मनमाने ढंग से खेल ही रहे है। उन्हे इस समय अटपटा सा लग रहा है। मन मे उदासी है। यह सब क्यो? इसलिए कि उनका साथी श्याम (कृष्ण) उनके बीच मे नही है, उसके लिये उनका मन छटपटा रहा है। कुदरत की इस सुन्दरता में वे कृष्ण के रूप मे ईश्वर को देखना चाहते है। वे इतने सवेरे ईश्वर के साथ खेल खेलने को उठे है। दूर से ही देखकर या उसके असर से प्रभावित होकर ईश्वर का गुणगान करना वे नही चाहते, न इस बारे में उनकी दिल रूपी बही मे कुछ जमा नाम है। उन्हे तो सिर्फ एक सादा पीले कपडे और जगली फूलों की जरूरत है। इसी सादे रूप में वे ईश्वर को देख सकते है। जहां चारों ओर आनन्द का राज फैला हुआ हो वहा उसको पाने के लिए मेहनत करना या बडी धूम-धाम से यत्न करना, उस आनन्द पर पानी फेरना है। वहा तो सीधे-सादे रूप मे ही उसका दर्शन हो सकता है और वही ग्वालो के लड़के चाहते हैं।

'कारवार' से लौटने पर मेरी श्यादी हुई। उस समम मेरी उम्र बाईस साल की थी।

□

चित्र और गायन

इस समय मैंने जो कविताएं लिखी, उस किताब का नाम "छवी थो गान" (चित्र और गायन) रखा था। उस समय हम 'लोग्रर सरक्यूलर रोड' पर रहते थे। हमारे घर में एक बाग था और उसके दाहिनी ओर एक बड़ी बस्ती थी। मैं कई बार खिड़की में बैठकर इस गजगजाती बस्ती को देखा करता था। अपने-अपने काम में लगे आदमी, उनके खेल, उनकी मजाक, इधर-उधर आना जाना आदि देखकर मुझे बड़ी खुशी होती और एक चलती-फिरती कहानी का भान होता था।

किसी एक बात की ओर अलग-अलग निगाहों से देखने की ताकत इस वक्त मुझमें खास-तौर से थी। मैंने अपने खयाली उजाले और दिल की खुशी के द्वारा छोटे-छोटे चित्र बना डाले थे और हरेक चित्र मे उसकी खासियत के अनुसार करुण रस के द्वारा एक-दूसरे से अलग रंग भर गये थे। इस तरह हरेक चित्र अलग-अलग रूप से सजाना, चित्र मे भरने के ही समान आनन्द देने वाला था। क्योंकि दोनों काम एक ही इच्छा के फल थे। आंखों से जो दिखता है, उसे मन देखना चाहता है और जिसका मन खयाल करता है, उसे आंखें देखना चाहती हैं। मैं यदि तसबीर बनाने वाला होता तो अपने मन के द्वारा बनाई हुई सारी रचनाएं और सारे दृश्यों में कूंची के रंग भर कर उनका पक्का स्मारक बना डालता। लेकिन मुझे यह साधन नहीं मिल सकते थे। मेरे पास तो ताल और स्वर ही साधन थे और इन साधनों से पक्का ठप्पा उठाना भी मैं सीखा नही था। निश्चित लकीर से बाहर भी रंग फैल जाया करता था। लेकिन जिस तरह छोटे-छोटे लड़के ड्राइंग का शुरू मे अभ्यास करते समय अपनी रंग की पेटी लगातार काम में लाते हैं उसी तरह मैं भी अपनी नयी जवानी के कई रंगो से सजाये खयाली-चित्रों को रंगने में दिन के दिन बिताना चाहता था। मेरी उम्र के बाईसवें वर्ष के उजाले मे यदि वे चित्र देखे जाय तो अभी भी उनका कुछ हिस्सा ग्रटपटी आकृति और धुंधे-धुंधे से रंग के रूप मे दिखलाई पड़ेगा।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि मेरी साहित्यिक जिन्दगी का पहला भाग 'प्रभात-संगीत' के साथ-साथ बीत गया था और उसके आगे के भाग में भी मैंने यही विषय दूसरे रूप में चालू रखा। मेरा ऐसा मानना है कि इस भाग के कई पन्ने बेकार हैं। किसी भी नये काम को शुरू करते समय कुछ बातें

यों ही फिजूल करनी पड़ती हैं। यही यदि पेड़ के पत्ते होते तो ठीक समय पर सूख कर झड़ जाते। लेकिन किताबों के पत्ते तो लिखने वाले के दुर्भाग्य से जरूरत न होते हुए भी पुस्तक से चिपक कर लगे रहते हैं। इस कविता की खासियत यह थी कि इसमें छोटी से छोटी बात पर भी ध्यान दिया गया था। ठेठ हृदय में पैदा हुए खयालों के रंग में इन तुच्छ बातों को रंग कर उन्हें बढ़िया बनाने का एक भी मौका मैंने इस 'छवि ग्रो गान' नाम के पद में नहीं खोया। इतना ही क्यों, जिस वक्त मन के तार की संसार के गान के साथ एकलयता होती है, उस वक्त संसार के गायन का हरेक नाद, प्रतिनाद (गूंज, अनुगूंज) पैदा कर सकता है और इस तरह से भीतरी गान के शुरू होने पर फिर लिखने वाले को कोई भी बात और कोई भी दौर बेमतलब नहीं लगता। जो जो मैंने अपनी आंखों से देखा, भीतरी मन सब स्वीकारता गया। रेती-पत्थर, ईंट जो मिले उससे छोटे बच्चे खेलने लगते है। वे यह नहीं सोचते कि ईंट का ढला किस काम का और रेतीले कैसे खेला जाय। इसका कारण यह है कि उनकी आत्मा उस वक्त खेल में होती है। उसी तरह जब हम जवानी के नये संगीत से भरे होते है, तब हमें यह मालूम होता है कि संसार वीणा के सुरीले तार सब जगह फैले हुए हैं। अपने हाथ के क्या और दूर के क्या, किसी भी तार पर हाथ रखो, उससे आवाज निकलेगी ही।

□

चित्र और गायन

इस समय मैंने जो कविताएं लिखी, उस किताब का नाम "छवी ओ गान" (चित्र और गायन) रखा था। उस समय हम 'लोअर सरक्यूलर रोड' पर रहते थे। हमारे घर में एक बाग था और उसके दाहिनी ओर एक बड़ी बस्ती थी। मैं कई बार खिड़की में बैठकर इस गजगजाती बस्ती को देखा करता था। अपने-अपने काम में लगे आदमी, उनके खेल, उनकी मजाक, इधर-उधर आना जाना आदि देखकर मुझे *बड़ी खुशी होती और एक चलती-फिरती कहानी का भान* होता था।

किसी एक बात की ओर अलग-अलग निगाहों से देखने की ताकत इस वक्त मुझमें खास-तौर से थी। मैंने अपने खयाली उजाले और दिल की खुशी के द्वारा छोटे-छोटे चित्र बना डाले थे और हरेक चित्र मे उसकी खासियत के अनुसार करुण रस के द्वारा एक-दूसरे से अलग रग भर गये थे। इस तरह हरेक चित्र अलग-अलग रूप से सजाना, चित्र में भरने के ही समान आनन्द देने वाला था। क्योंकि दोनों काम एक ही इच्छा के फल थे। आंखों से जो दिखता है, उसे मन देखना चाहता है और जिसका मन खयाल करता है, उसे आँखें देखना चाहती है। मैं यदि तसबीर बनाने वाला होता तो अपने मन के द्वारा बनाई हुई सारी रचनाएं और सारे दृश्यों में कूंची के रग भर कर उनका पक्का स्मारक बना डालता। लेकिन मुझे यह साधन नहीं मिल सकते थे। मेरे पास तो ताल और स्वर ही साधन थे और इन साधनों से पक्का ठप्पा उठाना भी मैं सीखा नही था। निश्चित लकीर से बाहर भी रग फैल जाया करता था। लेकिन जिस तरह छोटे-छोटे लडके ड्राइंग का शुरू में अभ्यास करते समय अपनी रग की पेटी लगातार काम में लाते हैं उसी तरह मैं भी अपनी नयी जवानी के कई रगो से सजाये खयाली-चित्रों को रंगने मे दिन के दिन बिताना चाहता था। मेरी उम्र के बाईसवें वर्ष के उजाले मे यदि वे चित्र देखे जायं तो अभी भी उनका कुछ हिस्सा अटपटी आकृति और पुछे-पुछे से रंग के रूप में दिखलाई पड़ेगा।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि मेरी साहित्यिक जिन्दगी का पहला भाग 'प्रभात-संगीत' के साथ-साथ बीत गया था और उसके आगे के भाग मे भी मैंने वही विषय दूसरे रूप मे चालू रखा। मेरा ऐसा मानना है कि इस भाग के कई पन्ने बेकार हैं। किसी भी नये काम को शुरू करते समय कुछ बातें

यों ही फिजूल करनी पड़ती हैं। यही यदि पेड़ के पत्ते होते तो ठीक समय पर सूख कर झड़ जाते। लेकिन किताबों के पत्ते तो लिखने वाले के दुर्भाग्य से जरूरत न होते हुए भी पुस्तक से चिपक कर लगे रहते हैं। इस कविता की खासियत यह थी कि इसमें छोटी से छोटी बात पर भी ध्यान दिया गया था। ठेठ हृदय में पैदा हुए खयालों के रंग में इन तुच्छ बातों को रंग कर उन्हें बढ़िया बनाने का एक भी मौका मैंने इस 'छवि औ गान' नाम के पद में नहीं खोया। इतना ही क्यों, जिस वक्त मन के तार की संसार के गान के साथ एकलयता होती है, उस वक्त संसार के गायन का हरेक नाद, प्रतिनाद (गूंज, अनुगूंज) पैदा कर सकता है और इस तरह से भीतरी गान के शुरू होने पर फिर लिखने वाले को कोई भी बात और कोई भी दौर बेमतलब नहीं लगता। जो जो मैंने अपनी आंखों से देखा, भीतरी मन सब स्वीकारता गया। रेती-पत्थर, ईंट जो मिले उससे छोटे बच्चे खेलने लगते हैं। वे यह नहीं सोचते कि ईंट का डला किस काम का और रेतीले कैसे खेला जाय। इसका कारण यह है कि उनकी आत्मा उस वक्त खेल में होती है। उसी तरह जब हम जवानी के नये संगीत से भरे होते हैं, तब हमें यह मालूम होता है कि संसार वीणा के सुरीले तार सब जगह फैले हुए हैं। अपने हाथ के क्या और दूर के क्या, किसी भी तार पर हाथ रखो, उससे आवाज निकलेगी ही।

□

चित्र और गायन

इस समय मैंने जो कविताएं लिखी, उस किताब का नाम "छवी ओ गान" (चित्र और गायन) रखा था। उस समय हम 'लोअर सरक्यूलर रोड' पर रहते थे। हमारे घर में एक बाग था और उसके दाहिनी ओर एक बड़ी बस्ती थी। मैं कई बार खिड़की में बैठकर इस गजगजाती बस्ती को देखा करता था। अपने-अपने काम में लगे आदमी, उनके खेल, उनकी मजाक, इधर-उधर आना जाना आदि देखकर मुझे बड़ी खुशी होती और एक चलती-फिरती कहानी का भान होता था।

किसी एक बात की ओर अलग-अलग निगाहों से देखने की ताकत इस वक्त मुझमें खास-तौर से थी। मैंने अपने खयाली उजाले और दिल की खुशी के द्वारा छोटे-छोटे चित्र बना डाले थे और हरेक चित्र मे उसकी खासियत के अनुसार करुण रस के द्वारा एक-दूसरे से अलग रग भर गये थे। इस तरह हरेक चित्र अलग-अलग रूप से सजाना, चित्र मे भरने के ही समान आनन्द देने वाला था। क्योंकि दोनों काम एक ही इच्छा के फल थे। आंखों से जो दिखता है, उसे मन देखना चाहता है और जिसका मन खयाल करता है, उसे आंखें देखना चाहती है। मैं यदि तसबीर बनाने वाला होता तो अपने मन के द्वारा बनाई हुई सारी रचनाएं और सारे दृश्यों मे कूंची के रग भर कर उनका पक्का स्मारक बना डालता। लेकिन मुझे यह साधन नही मिल सकते थे। मेरे पास तो ताल और स्वर ही साधन थे और इन साधनों से पक्का ठप्पा उठाना भी मैं सीखा नही था। निश्चित लकीर से बाहर भी रंग फैल जाया करता था। लेकिन जिस तरह छोटे-छोटे लडके ड्राइंग का शुरू मे अभ्यास करते समय अपनी रग की पेटी लगातार काम में लाते हैं उसी तरह मैं भी अपनी नयी जवानी के कई रंगों से सजाये खयाली-चित्रों को रगने मे दिन के दिन बिताना चाहता था। मेरी उम्र के बाईसवें वर्ष के उजाले में यदि वे चित्र देखे जायं तो अभी भी उनका कुछ हिस्सा अटपटी आकृति और पुछे-पुछे से रंग के रूप में दिखलाई पड़ेगा।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि मेरी साहित्यिक जिन्दगी का पहला भाग 'प्रभात-संगीत' के साथ-साथ बीत गया था और उसके आगे के भाग मे भी मैंने वही विषय दूसरे रूप में चालू रखा। मेरा ऐसा मानना है कि इस भाग के कई पन्ने बेकार हैं। किसी भी नये काम को शुरू करते समय कुछ बातें

यों ही फिजूल करनी पड़ती हैं। यही यदि पेड़ के पत्ते होते तो ठीक समय पर सूख कर झड़ जाते। लेकिम किताबों के पत्ते तो लिखने वाले के दुर्भाग्य से जरूरत न होते हुए भी पुस्तक से चिपक कर लगे रहते हैं। इस कविता की खासियत यह थी कि इसमे छोटी से छोटी वात पर भी ध्यान दिया गया था। ठेठ हृदय मे पैदा हुए खयालो के रग मे इन तुच्छ वातों को रग कर उन्हे बढ़िया वनाने का एक भी मौका मैंने इस 'छवि श्रो गान' नाम के पद में नहीं खोया। इतना ही क्यो, जिस वक्त मन के तार की ससार के गान के साथ एकलयता होती है, उस वक्त संसार के गायन का हरेक नाद, प्रतिनाद (गूंज, ग्रनुगूंज) पैदा कर सकता है ग्रौर इस तरह से भीतरी गान के शुरू होने पर फिर लिखने वाले को कोई भी वात ग्रौर कोई भी दौर वेमतलब नही लगता। जो जो मैंने ग्रपनी ग्रांखो से देखा, भीतरी मन सब स्वीकारता गया। रेती-पत्थर, ईट जो मिले उससे छोटे बच्चे खेलने लगते है। वे यह नही सोचते कि ईट का डला किस काम का ग्रौर रेतीले कैसे खेला जाय। इसका कारण यह है कि उनकी ग्रात्मा उस वक्त खेल मे होती है। उसी तरह जब हम जवानी के नये संगीत से भरे होते हैं, तब हमे यह मालूम होता है कि ससार वीणा के सुरीले तार सब जगह फैले हुए हैं। ग्रपने हाथ के क्या ग्रौर दूर के क्या, किसी भी तार पर हाथ रखो, उससे ग्रावाज निकलेगी ही।

□

कुछ बीच का समय

'छवि ओ गान' और 'कडी ओ कोमल' इन दोनों रचनाओं के बीच के वक्त में 'बालक' नामक बच्चों का माहवारी अखबार प्रकाश मे आया और एक छोटे से पौधे के गल जाने की तरह वह थोड़े से वक्त में बन्द भी हो गया। मेरी दूसरी बहिन की बच्चों के लिए सचित्र माहवारी पत्र निकालने की बड़ी इच्छा थी। इसीलिए उसने इस तरह के पत्र छपाने की बातचीत शुरू की। उसका पहला खयाल था कि परिवार के छोटे-छोटे बच्चे ही उनके लिए लेख लिखें और वे ही उसको चलावें, लेकिन इस विचार की कामयाबी मे शक मालूम होने पर वह खुद ही उसकी सम्पादक बनी और मुझसे लेखों द्वारा सहायता करने को कहा। इस तरह जब 'बालक' का जन्म हुआ। पहला या दूसरा अंक निकालने के बाद मे राजनारायण बाबू से मिलने यों ही देवगढ चला गया। वहाँ थोडे दिन रहकर मैं लौटा। रास्ते में बड़ी भीड थी। किसी तरह एक डिब्बे मे ऊपर की बैठक पर मुझे जगह मिली। मेरे सिर पर ही रोशनी थी। उस पर कोई ढक्कन न होने से उसका तेज उजाला मेरे चेहरे पर पडता था। इस कारण मुझे नीद नही आई। मैंने विचार किया कि 'बालक' के लिए कोई कहानी लिखू। कहानी के लिए प्लाट सोचने का यह ठीक मौका है। मैंने इसके लिए खूब यत्न किया लेकिन कोई प्लाट खयाल मे नही आया। हा, नीद जरूर आ गई। कुछ देर बाद मैंने एक सपना देखा कि एक देवमंदिर की सीढ़ियां मारे हुए जीवों के खून से लथपथ हो रही है। एक छोटी लड़की अपने पिता के पास खडी होकर करुणा भरे शब्दो में पूछ रही है—"पिताजी! यह क्या? यह खून कहा से आया।" उसका पिता भी भीतर ही भीतर बेचैन हो रहा है, लेकिन वह अपनी हालत छिपा कर बच्ची को चुप करने का यत्न करता है। बस इसके आगे मेरी नीद टूट गई। मुझे कहानी के लिए मसाला मिल गया। यही क्यो मुझे कई कहानियो के लिए इसी तरह सपने मे प्लाट सूझे है। मैंने अपना यह सपना 'टिपरा' के राजा माणिक के चरित्र मे मिलाकर कहानी लिख डाली। इसका नाम 'राजर्षि' रखा। यह 'बालक' मे क्रमश छपी।

मेरी जिन्दगी का यह वक्त चिन्ता से बिलकुल रहित था। मेरे पीछे किसी भी तरह की चिन्ता न थी। मेरी इस जिन्दगी के लेखो या कहानियो मे किसी भी तरह की चिन्ता दिखलाई नही पडती। जिन्दगी रूपी राह के राहगीरो के झुण्ड मे मैं अब तक शामिल नही हुआ था। मैं तो इस राह की ओर अपनी खिडकी मे से

झांक-झांक कर देखने वाला मात्र था। मुझे अपनी खिडकी में से इधर से उधर अपने कामों के लिए आने-जाने वाले लोग दिखलाई पडते थे और मैं अकेला अपने कमरे मे बैठा हुआ देखता रहता था। हा, बीच-बीच मे वसंत या बरसात की मौसम परवाना लिए मेरे कमरे में घुस आते और कुछ समय तक मेरे ही पास रहते।

मुझसे न केवल मौसम का ही रिश्ता होता था, लेकिन कभी-कभी सागर मे भटकने वाले लंगर रहित जहाज के समान कितने ही लोग मेरी इस छोटी सी कोठरी पर हमला करते और उनमे से कुछ लोग मेरी अनुभवहीनता से फायदा उठा कर अनेक तरकीब लडाकर अपना काम बना लेने का यत्न भी किया करते थे। असल में देखा जाय तो मेरे द्वारा अपना काम बना लेने के लिए उन्हे इतनी मेहनत करने की जरूरत भी न थी क्योंकि एक तो मुझमें जैसी चाहिए, वैसी गंभीरता न थी और दूसरा मैं कोमल हृदय था। मेरी अपनी जरूरतें बहुत ही थोडी थी। मेरा रहन-सहन बिलकुल सादा था और भरोसे तथा बेभरोसे वाले लोगों को पहचानने की कला मुझे बिल्कुल ही मालूम न थी। कई बार मेरी यह समझ हो जाती थी कि मैं छात्रो को जो फीस की सहायता देता हू, उसकी इन्हे इतनी ही जरूरत है जितनी कि उनकी पढी हुई किताबों की है।

एक दफा एक लंबे बालों वाला जवान अपनी बहिन की एक चिट्ठी लेकर मेरे पास आया। उस चिट्ठी मे लिखा था कि इस जवान की सौतेली मां इसे बहुत कष्ट देती है। इसलिए इसको मैं अपने आश्रम में रखूं। बाद मे मुझे मालूम हुआ कि उस जवान के सिवाय जो कुछ लिखा था या कहा गया था, वह सब झूंठ था। बहिन, झूंठी सौतेली मां और सब कुछ झूठ। मालूम नही उसे इतने झगड़े करने की क्या जरूरत पडी। अरे उड न सकने वाले पंछी के शिकार के लिए अचूक हथियार चलाने की भला क्या जरूरत है।

दूसरी बार फिर इसी तरह का एक युवा मेरे पास आया और कहने लगा कि मैं बी.ए. कर रहा हूं, लेकिन दिमागी रोग हो जाने के कारण इम्तिहान देने में असमर्थ हूं। यह सुनकर मुझे बडा दु.ख हुआ। चिकित्सा में दखल न होने के कारण मुझे यह नही सूझता था कि मैं इसे क्या जवाब दू? कुछ वक्त बाद उसी ने कहा कि आपकी स्त्री गये जन्म की मेरी मा है, ऐसा मुझे सपना आया है। मुझे यदि उनका चरणामृत पीने को मिले तो मैं अच्छा हो जाऊं। इस बात पर वह अपना भरोसा जताने लगा। जब उसने देखा कि मुझ पर इसका कुछ भी असर नही हो रहा तब आखिर मे हंसते-हंसते उसने कहा कि शायद ऐसी बातों पर आपकी श्रद्धा नही होगी। मैंने जवाब दिया कि इस बात का मेरी श्रद्धा से कोई रिश्ता नही है, लेकिन तुझे यदि यह भरोसा है कि इससे तुम्हें फायदा होगा तो मुझे कोई ऐतराज नही है। 'तुम बैठो' कहकर मैंने अपनी स्त्री के पैरो का चरणामृत लाकर दे दिया। जल लेने के बाद उसने कहा कि अब मुझे तबियत ठीक मालूम होती है। पानी के बाद

अनाज की बारी आती है। यहाँ भी वही हुआ और खाने की इच्छा जाहिर कर वह मेरी कोठरी में जम गया। आखिर उसकी ढीठता यहां तक बढ़ गई कि वह मेरी कोठरी में ही रहने लगा और अपने सगे-साथियों को इकट्ठा कर बीड़ी-सिगरेट के सम्मेलन करने लगा। आखिर में धुंआ से भरी उस कोठरी में से मुझे ही भागना पड़ा। उसने अपने कामों से बेशक यह साबित कर दिया कि उसका दिमाग खराब हो गया है, लेकिन उसका दिमाग निर्बल जरूर नहीं था।

इस घटना ने उक्त युवा के मेरे पुत्र होने के बारे मे मेरा पूरा भरोसा करा दिया। इस घटना से मैं समझता हूं कि मेरा यश भी बहुत फैल गया था, तभी तो कुछ दिनों बाद मुझे फिर एक लड़की का (मेरी स्त्री से गये जन्म की लड़की का) खत मिला। लेकिन इस बार तो मैंने दिल थाम करके अमन के साथ इस बात को टाल ही दिया।

इन दिनों बा० श्री शचन्द्र मजूमदार से मेरा रिश्ता तेजी से बढ रहा था। हर दिन शाम को प्रिय बाबू और श्री शचन्द्र मेरे पास इस छोटी सी कोठरी मे आते और हम लोग बहुत रात बीते तक साहित्य और सगीत पर मनमानी चर्चा भी किया करते। कई बार तो इस तरह के वाद-विवाद मे दिन-दिन भर लग जाता था। बात यह है कि इस समय तक मेरी जिन्दगी की कोई रूपरेखा नही बनी थी। इस कारण उसे खास और बलवान रूप भी न मिल सका था। यही कारण है कि मेरी जिन्दगी शरद की तरह सत्वरहित और हलके बादलो के समान मारी-मारी फिरती थी।

बंकिम चन्द्र

इन्ही दिनों में बंकिम बाबू से मेरी जानकारी हुई। यों तो मैंने उन्हे कई दिनों पहिले ही देख लिया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुराने छात्रों ने अपना एक सम्मेलन करने का इरादा किया था। इसके एक अगुआ बाबू चन्द्रनाथ वसू भी थे। आगे पीछे मुझे भी उन्ही मे से एक होने का मौका मिला होगा, शायद ऐसा उन्हे मालूम होने के कारण या दूसरे कोई कारण से उन्होने एक मौके पर अपनी कविता पढने के लिए मुझसे कहा। चन्द्रनाथ बाबू उस समय बिलकुल नवजवान थे। मुझे ऐसी याद है कि शायद उन्होने एक जर्मन लडाई के गीत का अंग्रेजी मे अनुवाद किया था और उसे वे सम्मेलन में पढ़कर सुनाने वाले थे। इसकी तामिल के लिये वे हमारे यहा आये और बड़े जोश के साथ उन्होंने वह गीत हमें बार-बार सुनाया। एक सिपाही के अपनी *प्यारी तलवार के नाम रचे गये गीत में चन्द्रनाथ बाबू को मगन* होते देखकर पाठक आसानी से अन्दाजा कर सकते हैं कि चन्द्रनाथ बाबू जवान थे और जवानी के जोश ने उन पर पूरा हक जमा रखा था। इसके सिवाय सचमुच वे दिन भी कुछ दूसरी ही तरह के थे। छात्र सम्मेलन की भीड-भाड़ में इधर-उधर फिरते-फिरते मुझे एक खास आदमी दिखलाई पड़ा। यहा इकट्ठे आदमियो में या दूसरी भी जगह यह आदमी छिप नही सकता था। वह तो तुरन्त ही आंखों में भर जाता था, क्योकि वह सुन्दर, ऊंचा और अच्छे गठन वाला था। उसका तेजस्वी व असरदार चेहरा देखकर उसके बारे मे मैं भी अपनी जानकारी की इच्छा पूरी किये बिना न रह सका। जिसका नाम जानने की मुझे इतनी छटपटाहट थी, वह बंकिम बाबू हैं, ऐसा जब मुझे मालूम हुआ, तब मेरे अचरज की सीमा ही न रही। लिखने की तरह उनका चेहरा भी तेजपूर्ण और उठावदार होना, यह एक चमत्कार भरा और अनुभव करने लायक संयोग था। उनकी वह सीधी और गरुड़ की तरह नाक, दबे हुए होठ और पैनी निगाहें, यह सब उनकी सीमा रहित ताकत के निशान थे। अपनी छाती पर बाजुओं को मिलाकर उस भीड़ में अकेले फिरते हुए देखकर मैं उनके प्रति जुड गया। अनोखी बुद्धि का वह एक बड़ा भा संग्रह दिखलाई पड़ता था और ऊंचे दर्जे के आदमियत के निशान उनके ललाट पर साफ दिखलाई पड़ रहे थे।

इस सम्मेलन के मौके पर एक छोटी सी बात हुई जिसकी तसवीर आज भी मेरी यादों में उभर रही है। वह यह कि एक दालान में एक पडितजी अपनी बनायी

संस्कृत कविताएं सुनने वालो को सुना रहे थे और बंगाली में उसका भाव समझाते जाते थे। उनमें एक ऐसा जिक्र आया जो यद्यपि ज्यादह घृणित तो नही था लेकिन नफरती जरूर था। जब पडितजी उस जिक्र का विस्तार करने लगे तो बंकिम बाबू अपने हाथो से अपना मुँह ढाक कर वहा से चले गये। मैं दरवाजे पर खड़ा हुआ यह सब देख रहा था। अभी भी दालान से निकलती हुई उस समय की उनकी रोमांच भरी मूर्ति मेरी आँखो के आगे खडी हो जाती है।

इस सम्मेलन के बाद उनसे मिलने के लिए मैं ज्यादह बेचैन हो गया, लेकिन उनसे मिलने का मौका नही मिला। आखिर में एक बार जब वे हावड़ा में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे, मैं बड़ी ढीठता के साथ उनके पास गया। मुलाकात हुई और बड़ी कोशिशों के साथ उनसे बतियाने की मुझे हिम्मत हुई। बिना बुलाए बिना किसी के द्वारा जानकारी हुए, इतने बड़े आदमी से अपने आप मिलने जाना उद्दण्ड जवानी का ही काम हो सकता है, ऐसा जानकर मुझे शर्म आने लगी।

कुछ साल बाद मैं थोड़ा बड़ा हो गया तो मेरी गिनती साहित्य भक्तो मे, छोटी उम्र का साहित्य भक्त इस वजह से होने लगी। गुण की वजह से तो मेरा नम्बर अभी तय नही था। मेरा जो थोड़ा बहुत नाम फैला था, उसके बारे में यह विचार था कि उसकी वजह अक्सर वहम और लोगो की दया है। उस समय बङ्गला में यह रिवाज हो गया था कि अपने यहा के नामधारी कवियों को पश्चिमी कवियो का नाम दिया जाय। इस रीति से एक कवि बंगाल का 'बायरन' हुआ। दूसरा 'इमर्सन' माना जाने लगा। किसी को 'वर्डस्वर्थ' बनाया और कुछ लोग मुझे 'शैले' कहने लगे। असल मे यह 'शैले' का अपमान था और मेरी दूनी हसी का कारण।

मेरा छोटा सा नाम था 'तोतला कवि'। मेरी जानकारी बहुत कम थी और दुनिया का अनुभव तो नाम का भी नही था। मेरे गद्य पद्य लेखों मे तत्व की बनिस्पत भावनाओं को ही ज्यादह स्थान प्राप्त था। इसका यह नतीजा होता कि मेरे लेखों मे मन को संतोष कराने वाली स्तुति करने लायक कोई बात किसी को नही मिलती। मेरी पोशाक और चाल ढाल का भी अनमेल था। लम्बे-लम्बे बाल मैने रखाये है। सार यह है कि कवि की शोभा देने लायक मेरी चाल-ढाल नही थी। एक शब्द में मेरा वर्णन किया जाय तो वह शब्द 'पागल' हो सकता है। आम आदमी की तरह रोजाना की दुनियादारी के बर्ताव से मेरा मिलान होना मुश्किल था।

इन्ही दिनो बाबू अक्षय सरकार ने 'जन-जीव' नामक आलोचना को लेकर मासिक पत्र छापना शुरू किया। मैं भी इसमें बीच-बीच मे लेख दिया करता था।

वंकिम बाबू ने 'बंग-दर्शन' संपादन करना अभी छोड़ा ही था। वे धर्म की चर्चाओं में लग गये और इसके लिए 'प्रचार' नाम का मासिक पत्र निकाला था। इसमें भी मैं कभी-कभी कविता भेजा करता था और कभी वैष्णव कवियों की प्रशसा से भरे लेख भी भेजता रहता था।

अब मैं वंकिम-बाबू से बार-बार मिलने लगा। उन दिनों वे भवानी दत्त स्ट्रीट में रहते थे। यद्यपि मैं उनसे बार-बार मिलता जरूर था, लेकिन हमारी बातचीत आपस में बहुत कम होती थी। उन दिनों मेरी उम्र बोलने की नहीं, सिर्फ सुनने लायक थी। यद्यपि तर्क करने की मुझे इच्छा तथा बेचैनी होती और तर्क शुरू करने के लिए छटपटाने भी लगता, लेकिन अपने सामर्थ्य के न होने वाली बात मेरी बोलती बन्द कर देती थी। कभी कभी संजीव बाबू (वंकिम के भाई) तकिए से टिककर वहां लेटे हुए मुझे मिलते। उन्हें देखकर मुझे बड़ा चैन मिलता, क्योंकि वे आनन्दी जीव थे। बातचीत से उन्हें बहुत आनन्द होता। उनकी बातें मजाकिया होती थी। जिन्होंने उनके लेख पढ़े होंगे, उन्हें सीधी-सादी बातचीत के समान उनके लेख भी आसान, सीधे और शात दिखलाई पड़े होंगे। भाषण की यह कला बहुत थोड़े लोगो को मिलती है और लेखो में उसकी छाप देना बहुत कम लोगो को होती है।

इसी समय प. शशिधर का नाम होने लगा। जैसा मुझे याद है, मैं कह सकता हूं कि वंकिम बाबू ही उन्हें सामने लाये। वे पश्चिमी शास्त्रों की सहायता से अपने समाप्त हुए महत्व को पुन. जमाने को पुराण पथी हिन्दुओ में से एक थे। उनके प्रयत्न सारे देश मे फैल गये। इसके पहिले से 'थियासफी' इस आन्दोलन की पूर्व तैयारी कर ही रही थी। वंकिम बाबू इस मंजिल से अपने को पूरी तरह नही जोड़ सके थे। वंकिम बाबू हिन्दू धर्म पर 'प्रचार' में जो लेख लिखते उस पर पं० शशिधर की नाम मात्र की छाया नही पड़ती और न ऐसा हो ही सकता था।

मैं उस समय अपनी अजान स्थिति से बाहर आ रहा था। इसका सबूत बोलने के युद्ध में फेंके हुए मेरे तीर देंगे। इन तीरों में कुछ हंसीपूर्ण काव्य थे, कुछ मजाकिया नाटक और कुछ अखबारो को भेजी हुई मेरी चिट्ठियां। इस तरह भावना के वन में से निकल कर मैं अखाड़े में उतर आया और लड़ाई के जोश में आकर वंकिम बाबू पर टूट पड़ा। इस घटना का इतिहास 'प्रचार' और 'भारती' में है। इसलिए यहां फिर से कहने की जरूरत नही है। इस वाद-विवाद के अंत में वंकिम बाबू ने मुझे एक खत लिखा। दुर्भाग्य से वह कही खो गया। यदि वह खत आज होता तो पाठक उससे अच्छी तरह यह जान सकते कि वंकिम बाबू ने अपने खुले मन मे से इस बदकिस्मती घटना का घाव किस तरह निकाल दिया था।

निकम्मी जहाज

किसी अखबार मे इश्तिहार पढ कर मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र एक नीलामी मे गये। वहा से शाम को लौटने पर उन्होने हम लोगो से कहा कि मैंने नीलाम में सात हजार रुपयो में एक फौलादी जहाज खरीदा है। जहाज था तो अच्छा लेकिन उसमे न तो एंजिन था और न कमरे। उस जहाज को चलने लायक करने के लिए सिर्फ उक्त बातो की ही जरूरत थी।

शायद उस समय मेरे भाई को मालूम हुआ होगा कि अपने देश बधु सिर्फ मुह से बडबड़ाने वाले हैं। मुह, और कलम को जोर शोर के साथ चलाने के सिवाय उनसे और कोई काम नही होता। एक भी जहाजी कम्पनी भारतीयों के हाथ में न होने से उन्हे बडी शर्म आई होगी। मैं पहले कह आया हू कि उन्होने एक दफा दियासलाई बनाने का यत्न किया लेकिन सलाइया सुलगती ही न थी। इसी तरह भाप से चलने वाला करघा खरीदा उस पर भी कपड़ा बुनने का खूब यत्न किया, लेकिन सफलता नही मिली। जैसे-तैसे उस पर एक तौलिया ही तैयार हो पाया और फिर वह हमेशा के लिए बद हो गया। इस बार उनके दिमाग में देशी जहाज चलाने की धुन पैदा हुई और ऊपर कहे अनुसार वे जहाज खरीद लाए। आगे जाकर धीरे-धीरे जरूरी पुर्जे उसमें लगाये और कमरे भी बनाए गये। वह जहाज, कल पुर्जे, कमरे आदि से भर गई और कुछ समय बाद में नुकसान और विनाश से भी वह खूब भरी।

इतना होने पर भी हमे यह नही भूलना चाहिए कि इस यत्न की तकलीफ और नुकसान मेरे भाई को ही उठाना पडा, लेकिन उस अनुभव का फायदा देश के काम आया। वास्तव में व्यापार की वृद्धि न होने वाले व्यवहार मे हिसाबी पद्धति न रखने वाले और देश की भलाई की चिता में छटपटा कर काम मे लग जाने वाले आदमी ही अपनी कार्य शक्ति से उद्योग धधे के क्षेत्रो को हमेशा भरते रहते है।

ऐसे लोगों के कामो का पूरा जितनी जल्दी आता है, उतनी ही जल्दी वह उतर भी जाता है, लेकिन पूर के साथ-साथ जमीन को कसदार बनाने वाली मिट्टी का जो बहाव आता है वह पूर उतर जाने पर भी बचा रहता ही है। झाड़-झगड काट-कूट कर जमीन को तैयार करने वाले की मेहनत (फसल) पैदा करते समय किसी के भी ध्यान में नही आती। नयी खोज करने वाले को जो मेहनत, ताकत

ग्रौर पैसा खर्च करना पड़ता है, यहां तक कि उसका सब कुछ मिट जाता है, उसका फायदा उसे नहीं मिलता। केवल उसका अनुभव ही बचा रहता है, जिसका उपयोग आगे की पीढ़ी को होता है। कष्ट उठाकर बड़कों की याद तक न आना, यह एक तरह से उनकी बदकिस्मती ही है। जिन्दगी भर आनन्दपूर्ण जवाबदारी और धोखे के कामों को जो इन्सान सिर पर लेते हैं और उनको करते हुए अपना सब कुछ मिटा देते है, उनकी मेहनत से फायदा उठाने वाले लोग उन्हे ही भूल जाते है। कम से कम मौत के बाद इसका उन्हें कष्ट नही होता, यह एक दुख मे सुख ही समझना चाहिये।

भाई ज्योतिरिन्द्र की होड मे एक ताकतवर था। एक ओर यह थे, दूसरी ओर यूरोपियन फ्लाटिला कम्पनी। इन दोनों के व्यापारी जहाजो में कितनी भारी लड़ाई हुई, यह बात खुलना और बरीसाल के लोग अब भी जानते और उसे कह सकते हैं। चढा–ऊपरी की लडाई मे एक के बाद एक जहाज खरीदे जाने लगे। एक के नुकसान में दूसरे का नुकसान बढा। इस तरह नुकसान रूपी इमारत के मंजिल पर मंजिल चढने लगे। आगे जाकर तो ऐसा अवसर आया कि टिकिट छपाने लायक पैसे भी उनसे पैदा होना मुश्किल हो गया। खुलना और बरीसाल के बीच में चलने वाले जहाजों की कम्पनियो का स्वर्ण-काल शुरू हुआ। जहाजो में यात्री लोग मुफ्त बैठाए जाने लगे। इतना ही नही जहाजो पर उनके खाने-पीने की भी व्यवस्था बिना किसी तरह का पैसा लिए होने लगी। जब इतने से भी काम नही चला, तब कुछ लोगों की टोलिया तैयार की गईं। ये टोलियाँ हाथ मे झडा लेकर देश-प्रेम के गीत गाते-गाते यात्रियों को जुलुस के साथ-साथ देशी जहाज पर ले जाने लगी। इतना होने से यात्रियो की तो कमी नही रही, हां, दूसरी सब बातों की कमी तेजी के साथ बढने लगी।

देश-स्वाभिमान की ज्योति जगाने के कारण बेचारे व्यापारिक हिसाब को कही जगह ही नही रही। उत्साह की चमक ज्यादा से ज्यादा बढ़ती गई और उसमें से देश-गौरव भरे पदों का स्वर निकलने लगा लेकिन गणित के हिसाब मे इससे कुछ भी फर्क नही पड़ता था। वह तो अपने ही हिसाब के अनुसार चल रहा था। तीन बार तीन जोड़ने से नौ ही आते थे। हां, फर्क इतना ही था कि इस जहाजी कम्पनी के हिसाब मे यह जोड़ जमा की तरफ न आकर नाम की तरफ आता था। व्यापार की दृष्टि मे रहित लोगो को हमेशा सताने वाली बात यह है कि दूसरे लोग उन्हें बहुत आसानी से पहचान जाते हैं, पर वे दूसरों के स्वभाव को कभी नही पहचान पाते। अपने स्वभाव की इस कमी को ढूढने मे ही उनकी जिन्दगी और उनके साधन खप जाते हैं और इस कारण वे अपने अनुभव का फायदा उठा नही पाते। खैर, इस जहाज पर यात्रियो को तो मुफ्त मे भोजन मिलता ही था,

पर साथ में काम करने वालों को भी कभी भूखे रहने का मौका नहीं आता था। हां, सबसे बड़ा फायदा मेरे भाई को हुआ, वह यह कि उन्होंने इस हिम्मत से उठाई हुई हानि को बहादुरी से बर्दाश्त किया।

हर दिन लडाई का मैदान, जहाजी स्थान की हार-जीत की खबरों से भरे हुए अखबार हम लोगों को बेचैन करते रहते थे। आखिर मे एक ऐसा खराब दिन आया जिस दिन हावडा के पुल से टकराकर हमारा जहाज, जल मे डूब गया। नुकसान की चोटी पर कलश चढ गया और इस कारण यह व्यापार बद करने के सिवाय दूसरा चारा ही न रहा।

□

इष्ट वियोग

इन्हीं दिनों में हमारे परिवार पर मौत ने जो हमला किया उसके पहले मैंने किसी की भी मौत होते नही देखी थी। जब मेरी मा की मौत हुई, उस वक्त मैं बहुत छोटा था। वह कई दिनो से बीमार थी। लेकिन हमे यहा तक मालूम नही पडा कि उसकी बीमारी कब बढ़ी। वह हमारे ही कमरे के दूसरे विस्तर पर सोया करती थी। मुझे याद है कि बीमारी मे ही उसे एक वार नदी में नाव पर घुमाने के लिये ले गये थे और वहां से लौटने पर उसे तीसरे मजिल के एक कमरे मे रखा गया था।

जिस समय मा की मृत्यु हुई, हम नीचे की मंजिल के एक कमरे में गहरी नींद में सो रहे थे। याद नहीं उस समय कितने बजे थे। हमारी बूढी दाई मा हुंकारा देती हुई उस समय हम लोगो के पास आई और कहने लगी 'अरे बच्चो! तुम्हारा सब कुछ चला गया, अरे भाग्य! तूने यह कैसा प्रहार किया? उस भयावह समय मे हमें दुःख का धक्का न बैठने पावे, इसलिए मेरी भौजाई उस पर नाराज हुई, और उसे दूसरी जगह ले गई। उसके शब्द सुनकर मैं कुछ-कुछ जाग पडा और मेरा दिल धड़कने लगा। डर के मारे आंखों के आगे अन्धेरी सी आने लगी। पर खास बात मेरे ख्याल में उस समय तक भी न आई। सुबह उठने पर मा की मौत की खबर हमें मिली, लेकिन उन खबरों से मेरा कितना और क्या रिश्ता है, यह मै समझ नही पाया।

बरामदे में आकर मैं देखता हूं तो मेरी माता खाट पर सुलाई गई है। उसके चेहरे पर मौत का डर पैदा करने वाले कोई निशान न थे। उस सुबह मौत का रूप शात और गहरी नींद की तरह प्रसन्नता से भरा था। जिन्दगी और मौत के गहरे फर्क की कोई छाप हमारे दिल पर उस समय नही पड़ी थी।

बड़े फाटक से मां का शव बाहर निकला। हम सब श्मशान मे गये उस समय इस फाटक में फिर से आकर घर के काम-काज मे अपनी जगह पर मेरी मा अब फिर कभी नही होगी, यह विचार आते ही मेरा मन शोक के समुन्दर के तूफान मे डगमगाने लगा। दिन की घड़ियां एक के बाद एक बीतने लगी। सांझ हुई। हम लोग श्मशान से लौटे। अपने मुहल्ले मे आते ही मेरी निगाहे पिताजी के कमरे पर गई। वे बरामदे में अब तक ध्यान में डूबे निश्चल बैठे थे।

घर की सबसे छोटी बहू ने हम बिन मा के बच्चो की सार-सभाल का काम

अपने हाथों मे लिया। हमारा खाना, कपड़े-लत्ते आदि की व्यवस्था उसने अपने ऊपर ले ली थी। उसके सिवाय वह हमेशा हमें अपने ही पास रखती, जिससे कि हमें माँ की याद न आने पावे। सजान वस्तुओं में यह एक गुण होता है कि उपाय संभव बातों को वे अपने आप ही ठीक कर लेती है और जिन बातों की पूर्ति नही हो सकती, उन बातों को भुलाने मे सहायता देती है। बचपन में यह ताकत खास होती है। इसीलिए कोई भी घाव इस उम्र मे गहरा नहीं हो पाता और न कोई घाव ही स्थायी हो पाता है। हमारे पर पड़ी हुई मौत की यह छाया भी अपने पीछे अन्धेरा न छोड़कर जल्दी ही खतम हो गई। आखिर छाया ही तो ठहरी।

जब मै कुछ बड़ा हुआ तो बसत के दिनों में जब वासान्ती शोभा अपनी पूरी सुन्दरता से खिलती है, चमेली के कुल फूल मैं अपने दुपट्टे के कोने में बाँध लिया करता और पागल की तरह इधर-उधर भटकता रहता था। उन सुहानी कोमल कलियों का जब मेरे सिर से स्पर्श होता तो मैं समझता कि जैसे मेरी स्वर्गवासी मा की अंगुलियाँ ही मुझे छू रही हैं। माँ की उन कोमल अंगुलियों मे भरा हुआ प्यार और इन कोमल कलियो का प्यार मुझे एक सा ही मालूम होता था। उन दिनों मुझे ऐसा भी मालूम होता था कि भले ही हमे मालूम पडे या ना पड़े या मिले या ना मिले, लेकिन इस संसार में प्यार लबालब भरा पडा है। मौत का यह चित्र मेरी बहुत छोटी उम्र का है, लेकिन मेरी उम्र के चौबिसवें साल में मौत से मेरा जो परिचय हुआ वह बहुत दिनो मे ज्यों का त्यों बना हुआ है। मौत एक के बाद एक चोट करती जा रही है, और उसके कारण आँसुओं की धारा भी बह रही है।

बचपन मे कोई चिन्ता नही रहती। यह उम्र बड़ी बेपरवाही की है। बडी से बड़ी मुसीबतो को थोड़े ही समय मे भुला दिया जाता है। परन्तु उम्र बढ़ने के साथ-साथ मुसीबतों को भुलाना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए बचपन सुहाना और जवानी दु:ख भरी मानी गई है। बचपन मे हुआ मौत का प्रहार मैं कभी का भूल गया, किन्तु बडी उम्र के आघात ने मेरे दिल में बडा गहरा जख्म किया।

जिन्दगी के सुख-दु:ख के लगातार प्रवाह मे भी कभी रुकावट खड़ी हो जाती है, यह मैं अब तक नही जानता था। इसी कारण मैं जिन्दगी को ही सब कुछ समझता था। उसके सिवाय और कुछ नही है, यह मेरी पक्की धारणा थी। परन्तु जब मेरे परिवार मे मौत का आना हुआ, तब मेरी जिन्दगी के अमन के दो टुकडे कर दिए और उस कारण मैं हड़बड़ा गया। मेरे चारो ओर सब जगह पेड़, पंछी, जल, सूरज, आकाश, चांद, तारे आदि सब चराचर वस्तुएं पहले की तरह मौजूद थे। उनमें तनिक भी फर्क नही पड़ा था। परन्तु इन्ही वस्तुओं की तरह सचाई के साथ जमी पर रहने वाला तथा मेरे जीवन आत्मा और हृदय से परहित रुप मे जुड़ा होने के कारण जिसकी सत्यता मौजूदगी-मुझे अधिक मालूम थी, वही जीव पल भर मे

सपने की तरह नष्ट हो गया। जब मैंने अपने चारों ओर देखा तो मुझे आस-पास की सारी बातें झूठ सी लगने लगीं। भला, गये हुओ का रहे हुओं से या दृश्य का अदृश्य से मेल कैसे बैठाया जा सकता है?

दुनियां के दूसरे हिस्सों में आजाद-जिन्दगी का आन्दोलन कभी बन्द नही होता। वहां आम इन्सान का इसके लिये प्रयत्न चलता रहता है, और हम? हम तो कहानी की भिखारिणी की तरह एक ओर खडे रहकर बडी लालसा से रास्ता जोहते रहते हैं। अपनी तैयारी करके समार के स्वतंत्रता-उत्सव मे शामिल होने का क्या हमे भी कभी मौका मिला है? जहा फूट का बोलबाला है, एक-दूसरे को अलग करने वाली हजारों बातें होती हैं ऐसे देश मे दुनिया की आजादी का स्वतः अनुभव पाने की इच्छा अधूरी ही रहेगी।

बचपन मे अपने नौकरों द्वारा खीची हुई सफेद खड़ी की रेखाओ के भीतर रहकर जिस जानने की इच्छा से मैं बाहरी ससार को देखता रहता था, उसी जानने की इच्छा से अपनी इस जवानी मे भी मनुष्य-ससार की ओर देखता रहता था। ये बातें यद्यपि मुझे कभी तो मिलने वाली और कभी मुझसे बहुत दूर रहने वाली मालूम हुई तो भी उससे यदि रिश्ता न हुआ, उनके द्वारा कभी हवा की लहरें पैदा न हुई, उनका प्रवाह बहने न लगा और बाहर के लोगो के आने-जाने लायक वहा रास्ता न हुआ तो फिर हमारे चारो ओर एकत्रित मृत वस्तुए कभी दूर न होगी और उनका एक बड़ा भारी ढेर हो जायेगा, जिसके नीचे हमारी जिन्दगी बिना कुचले न रहेगी।

बरसात मे केवल काले बादल आसमान मे जमा हो जाते है और फिर पानी गिरने लगता है। शरद ऋतु के आकाश मे बिजली चमकती है, बादल गरजते है, किन्तु पानी नही पड़ता और एक तरह से यह ठीक भी होता है, क्योंकि यह फसल आने का वक्त होता है। यही बात मेरी कविता के बारे मे भी कही जा सकती है। कवि के जीवन मे जब बरसात की मौसम का बोलबाला था, तब कल्पना के भाप के सिवाय उस समय मेरे पास कुछ नही था। कल्पना के बादल जमते और तेज धारा के साथ पानी पड़ने लगता। उस समय मैं जो कुछ लिखता वह स्पष्ट नही होता और मेरी कविता स्वच्छन्द विहार किया करती। परन्तु मेरे कवि-जीवन के शरद काल मे रचे हुए 'कडी ओ कोमल' नामक पद्य-सग्रह के बारे मे ऐसा कहा जा सकेगा कि आकाश बादलों से ढ़का था और जमी पर फसल आती हुई दिखलाई पड़ती थी। उस समय वास्तविक दुनियां से मैं परिचय कर रहा था। इन्ही दिनो मेरी भाषा और छन्दों ने निश्चयपूर्वक अनेक तरह के रूप बनाने का यत्न किया।

इस तरह मेरी जिन्दगी की किताब के दूसरे हिस्से का खात्मा हुआ। अब भीतर-बाहर के इकट्ठे होने के 'जानकार से अजानकार का मेल करा देने के दिन चले

गये। अब मुझे अपनी जिन्दगी इन्सानों के निवास-स्थान में रहकर पूरी करनी है। इस प्रवास में मिलने वाली भली-बुरी बातों या सुख-दुःख के दौरान की ओर अब कारण रहित होकर चित्र के समान देखने वाले मात्र बनने से काम नहीं चलेगा। अब तो इनका गहरा विचार करना होगा। एक ओर नई-नई बातें पैदा हो रही हैं और दूसरी ओर कुछ बातें बीतती जाती है। एक ओर जय गान हो रहा है और दूसरी ओर मुंह पर बदनामी की कालख छा रही है। एक ओर आपसी झगड़े बढ़ रहे हैं, तो दूसरी ओर मन मिलने से आनन्द ही आनन्द छा रहा है। इस तरह इस जिन्दगी में एक-दूसरे के खिलाफ अनेक तरह की असख्य घटनाएं हर समय घट रही है। जिन्दगी की आखरी रहस्य भरी सांझ तक पहुचने के रास्ते में अनन्त अड़चनें अनेक दुश्मन और कठिनताएं हैं। इन सबों के बीच में से मेरा मार्ग दिखाने वाला बड़े जोश और चतुराई से मेरे लक्ष्य की ओर मुझे ले जा रहा है। उस चतुराई का वर्णन करने की या उस रास्ते की रूप रेखा खींचने की ताकत मुझमें नहीं है। इस रास्ते के गहरे रहस्य को स्पष्ट करने की ताकत मेरे मे न होने से मैं इस बारे में यदि कोई चित्र खीचूंगा तो मुझे आशा है कि उससे कदम-कदम पर बहम ही पैदा होंगे। उस मूर्ति की रूप-रेखा खीच कर उसके अलग-अलग हिस्सों को दिखाने का यत्न असफल ही होगा। उसमें सफलता नहीं मिलेगी। हां, ऊपर की धूलि भल ही मिल जाय, पर अन्तरङ्ग की भेंट का आनन्द अपने को नहीं मिलेगा।

इसलिए अन्तर्मन के मन्दिर के दरवाजे तक अपने पाठकों को पहुंचा कर अब मैं उनसे विदा लेता हूं।

□

वर्षा और शरद ऋतु

हिन्दू ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कोई न कोई ग्रह हरेक वर्ण का शासक माना जाता है। इसी तरह मेरे अनुभव की बात यह है कि जिन्दगी की हरेक अवस्था मे किसी न किसी मौसम का रिश्ता रहता ही है और उसे ही खास तौर से महत्त्व भी मिलता है। मेरे बचपन के बरसाती मौसम के चित्र मेरी यादो मे ज्यो के त्यों मौजूद हैं। हवा के झोंकों से पानी भीतर आ रहा है और बरामदे की जमीन पर पानी ही पानी हो गया है। बरामदे मे से भीतर जाने के दरवाजे बन्द कर लिये गये हैं। माग का पिटारा सिर पर लेकर हमारी बूढ़ी नौकरानी पीरी पानी से भीगती हुई कीचड मे से निकलने का रास्ता ढूंढ रही है और ऐसे वक्त मे मैं बिना कोई कारण के आनन्द मे डूबा बरामदे में इधर से उधर चक्कर मार रहा हूं।

ऐसी ही एक बात और मुझे याद है। मैं स्कूल मे हूं। गैलरी मे हमारी कक्षा लगी हुई है। बाहर चिकें पडी हैं। दोपहर का समय है। इतने ही में आकाश बादलो मे भरने लगा। हम यह सब अभी देख रहे है कि बरसात शुरू हो गई है। डराने वाली गड़बडाहट भी बीच-बीच में हो जाती है। मालूम होता है कि कोई पागल औरत बिजली रूपी छुरी हाथ में लेकर आकाश को इस छोर से उस छोर तक चीर रही है। तूफान से चिकें जोर-जोर से हिल रही है। इतना अंधेरा हो गया है कि बड़ी मुश्किल से हम लोग अपनी किताब पढ सकते है। पंडितजी ने अपनी-अपनी किताबें बन्द करने के लिए इस वक्त हमे इजाजत दे दी है। हमारे हिस्से में आई हुई घूमधाम और हा हूं करने के लिए इस समय बादलों को आम इजाजत दे रखी है। अधर लटक कर अपने झूलते हुए पैरों को हम हिला रहे है। ऐसे समय मे जिस तरह किसी खयाली कहानी का हीरो राजकुमार कोई जगल में भटकता हो, उसी तरह मेरा मन भी उस दूर जंगल मे सीधा चला जा रहा हो, ऐसा मालूम होता था।

इसके सिवाय सावन महीने की गहरी रातें मुझे अच्छी तरह याद हैं। बीच-बीच में नीद खुल जाती है। पानी की बूंदें शांत नीद की बजाय ज्यादा शात और आनन्द देने वाली मालूम होती हैं। जागने पर मैं ईश्वर से बिनती करता हू कि रात भर पानी इसी तरह गिरता रहे। हमारा हौज पानी से लबालब भर जाय और नहाने की बावड़ी मे इतना पानी आ जाय कि वह ऊपर की सीढ़ी तक जा पहुंचे।

इसके बाद मैं जिस दशा का वर्णन करता हूं, उसमें खास तौर से शरद ऋतु के राज का वर्णन है। आसोज महीने के शात वातावरण में यह राज फैला हुआ दीख रहा है। ओस से भीजी हुई हरियाली के तेज से चमकने वाली शरद की शोभा मुनहले सूरज के उजाले में मैं बरामदे में चक्कर मारा करता।

शरद ऋतु का दिन अब ऊपर चढ़ आया है। घर के घंटे ने बारह बजा दिये है। इसके साथ ही साथ मेरे मन की स्थिति और उसके साथ गाने का राग भी बदल गया है। मेरा मन संगीत में डूब गया है। अब प्रयत्न या कर्तव्य की पुकार के लिए कोई गुंजाइश नही रह गयी है। मैं अपना गीत आगे रचने में लगा ही हुआ हूं। दोपहर के बाद मैं अपने कमरे में तसवीर बनाने की पोथी हाथ मे लेकर तसवीर बनाने की कोशिश में अपनी बैठक पर पड़ा हुआ हूं। यह कोई चित्रकला का पीछा पकडना नही माना जा सकता, यह तो तसवीर बनाने की इच्छा के साथ खेल खेलना हो सकता है। उसका तो नाम मात्र भी कागज पर नही लिखा जाता। इतने ही में शरद ऋतु का तीसरा पहर कलकत्ते की उन छोटी-छोटी भीतों पर से जाता हुआ दीख पडता है और जाते-जाते मेरे कमरे को सोने के प्याले से नशे के समान भर जाता है।

खेतो में फसल पक जाने के समान जिस शरद ने मेरे काव्य को बढाकर उसे पूर्णता को पहुंचाया, जिसने मेरे खाली समय की कोठी को उजाले से भर दिया, और गीत बनाते समय जिसने मेरे खुले मन पर आनन्द और धीरज को बहाया, मानो उस शरद के मौसम के आसमान में से ही उस समय के दिनो को मैं देख रहा हू। या मानों मैं उस शरद के उजाले से अपनी जिन्दगी को देख रहा हूं, ऐसा मुझे मालूम होता था। परन्तु ऐसा क्यों मालूम होता था, यह मुझसे नहीं कहा जा सकता।

मेरे बचपन की बरसात और जवानी की शरद में मुझे एक बडा फर्क दिखलाई पड़ रहा है। वह यह कि बचपन में तो अपने अगिन उपायो, चमत्कार भरे रूपो तथा अनेक तरह के गानो के द्वारा मुझे रमा लेने वाली अचम्भे भरी बाहरी दुनिया थी। लेकिन जवानी के शरद में दिव्य उजाले में होने वाले त्यौहारों को जन्म देने वाला खुद इन्सान ही होता है। जवानी के शरद में बादल और सूरज के उजाले की लीलाओ को कोई नही पूछता। उस समय तो मन खुशी और रंज से लबालब भर जाया करता है। शरद के आसमान को खुल उठने का या उसमें रंग की छटा फैल जाने का कारण तो उसकी ओर हमारा एकटक देखना ही है। इसी तरह शरद की हवाओं में तीव्रता पैदा करने वाली चीज भी मन की छटपटाहट ही है।

अब मेरे काव्य का विषय इन्सान बन गया है। यहां तो पहिले की परम्पराओ

को छोड़ने की गुंजाइश ही नहीं है क्योंकि इन्सानी रहन-सहन के दरवाजे तो बिल्कुल ठहरे हुए हैं। दरवाजे के बाद दरवाजा और दालान के बाद दालान इस तरह एक सी बनावट है। इस राजमहल की खिड़की में अचानक उजाला पहुंचने पर भी या दरवाजे के भीतर से बाजे की आवाज कान पर पड़ते हुए भी हमें कितने ही बार इस महल से लौटना पड़ता है। लेन देन का कामकाज शुरू होने के पहले रास्ते के कितने ही दुःख भरे विघ्नों को हटाना पडता है और मन दूसरा मन बन जाता है। असली नहीं रह पाता। इच्छा से उसे प्रेम जोड़ना पड़ता है। जिन्दगी का फव्वारा इन बाधाओं पर पड़ते हुए, उसमें से जो हंसी और आंसुओं के छींटे उड़ते हैं उनसे दिशाएं धुंधली बन जाती हैं। इस फव्वारे मे इतना जोर होता है कि वह बहुत ऊंचाई तक उड़ता है और जल भवर की तरह एक सरीखा नाचता रहता है। इस कारण उसके वास्तविक रास्ते का ठीक-ठीक खयाल किसी को भी नहीं होता।

कड़ी ओ कोमल

यह एक साझ का गीत है जो मनुष्य शरीर रूपी घर के आगे से जाने वाले रास्ते पर से गाये जाने काबिल है, या उस राह पर सुनने लायक है। उस गम्भीर स्थान मे प्रविष्ट होकर रहने का हुक्म देने के लिये यह गीत गाया गया है। इस गीत मे की हुई प्रार्थना इन्सान भगवान से करता है।

जब मैं दूसरी दफा विलायत को जाने लगा तो जहाज पर ही आशुतोष चौधरी से मेरी जानकारी हुई। इन्होंने हाल ही मे कलकत्ता यूनिवर्सिटी से एम. ए. पास किया था और वैरिस्टरी पास करने विलायत जा रहे थे। कलकत्ते से मद्रास तक जाने में हमारा उनका साथ हुआ। इनके साथ से ऐसा लगा कि प्रेम की गंभीरता जानकारी की ज्यादा या कमी पर नही है। इस थोड़े से ही वक्त मे चौधरी बाबू ने प्यार भरे व्यवहार से और स्वाभाविक गुणों से अपना लिया कि मानो हमारी उनकी जन्म से ही दोस्ती हो और उसमे कभी भी रुकावट न पड़ी हो।

विलायत से लौटने पर 'आशु' हमारे मे का ही एक बन गया। अभी उसके धंधे का जाल ज्यादा नही फैला था, और न उसके ग्राहको के पैसे की थैलियाँ ही इतनी ज्यादा ढीली हुई थी, इसलिये उसमें साहित्य के तरह-तरह के बगीचों से रस इकट्ठा करने का जोश मौजूद था।

उसे फ्रेंच साहित्य से बड़ा प्यार था। उस वक्त मैं कुछ कविता रच रहा था। ये कविताए आगे जाकर 'कड़ी ओ कोमल' नामक किताब मे छपी। 'आशु' कहा करता था कि मेरी कविता में और पुरानी फ्रेंच कविता में समानता है। इस काव्य मे 'संसारी जिन्दगी के खेल से कवि पर पड़ी हुई मोहिनी' इस बात को बताया गया है, ऐसा उसका मानना था। संसारी-जिन्दगी में प्रवेश करने की इच्छा ही इन सब कविताओ का एकमात्र उद्देश्य था।

इन सब कविताओ को एक जगह पर क्रम बार इकट्ठी कर उन्हें छपवाने का काम आशु ने अपने ऊपर लेने की इच्छा जाहिर की, इसलिये यह काम उसे सौंपा गया। 'कड़ी ओ कोमल' नामक कविता उसे सब कविताओं की कुंजी मालूम हुई। इसलिये उसने उस कविता को किताब में सबसे पहिला स्थान दिया।

आशु का कहना बिल्कुल ठीक था। बचपन में मुझे घर से बाहर जाने की इजाजत नही थी। उस वक्त मै अपनी गच्ची पर की दीवालो के झरोखों में से बाहरी

दुनिया के विविध रूपों की ओर आशा लगाये देखता और उमे अपना मन अर्पित किया करता था। जवानी के आने पर इन्सानी दुनियाँ की तरह मुझे लुभा लिया। बचपन में बाहरी संसार के साथ एक अनजाने इन्सान की तरह मैं दूर से ही बातचीत किया करता था। जवानी में भी वही हालत है। इन्सानी दुनियां से मैं रास्ते के एक ओर खड़ा होकर दूर से ही जानकारी करता हू। मुझे मालूम होता है कि मेरा मन सागर के किनारे पर खड़ा हुआ है। सागर के उस किनारे पर से नाव की पतवार चलाता हुआ मल्लाह मुझे खुशी से अपने हाथ के इशारे से बुला रहा है और कहना चाहिए कि मन भी इस यात्रा के लिए एक मरीखा छटपटा रहा है।

यह कहना ठीक नही है कि मुझे समाज मे मिल जाना नहीं आता। एक खास तौर की अकेली जिन्दगी में मेरा लालन-पालन हुआ है और इसलिए दुनियादारी की जिन्दगी से हिल-मिल जाने मे यह वात रुकावट वन गई है। लेकिन समाज के व्यवहारो में बिल्कुल गढ जाने वाले देश के वन्धुओ मे भी मुझसे ज्यादह समाज-प्रेम के चिह्न दिखलाई नही पड़ते। हमारे देश के जीवन प्रवाह का किनारा ऊंचा है। उस पर घाट बने हुए है। उसके काले-काले पानी पर पुराने पेड़ो की ठंडी छाया फैली हुई है। पेड़ों की टहनियों पर पत्तों में छिपी कोयल पुराना गीत गा रही है। यह सब कुछ है, लेकिन अब वह प्रवाह बहना बन्द हो गया है। पानी एक जगह रुका पडा है। भला, उसका वह प्रवाह क्यों बन्द हो गया? उस पर उठने वाली लहरें क्यो वन्द हो गईं? सागर की भर्ती का पानी किस समय इस प्रवाह मे घुसता होगा।

इन्सान यदि अकेले में, आलस में, दिन बिताता है तो उसका मन बेचैन हो जाता है। उस पर निराशा छा जाती है क्योंकि इस दशा मे जिन्दगी के व्यवहार से नजदीकी रिश्ता नही रह पाता। उस पर निराशा छा जाती है क्योंकि इस दशा में छुटकारा पाने का मैंने खूब यत्न किया। उस समय के राजनैतिक आन्दोलन मे भाग लेने को तो मेरा मन मजूर नही करता था, क्योकि उसमें जीवन शक्ति नही दिखाई दे रही थी। साथ में देश की पूरी जानकारी न होना और मातृभूमि की सेवा की छटपटाहट का पूर्ण अभाव भी मौजूद था। मुझे अपने आपके प्रति बड़ा असन्तोष था। इस कारण मै अधीर वन गया था और मै अपने ही आप से कहा करता था कि मैं आजादी से घूमने वाला "अरव-बे-दुईन" हुआ होता तो कितना अच्छा होता।

समार के दूसरे हिस्सों में आजाद जिन्दगी का दौर कभी वन्द नही होता। वह इन्सान मात्र की इसके लिए बेरोकटोक कोशिश चलती रहती है और हम? हम तो कहानी की भिखारिन की तरह एक ओर खड़े रहकर बडी लालसा से रास्ता जोहते रहते हैं। अपनी तैयारी करके संसार की आजादी में शामिल होने का नया हमें

भी कभी मौका मिला है ? जहां फूट फैली हो, एक-दूसरे को अलग करने वाली हजारों बातें हो, ऐसे देश में दुनिया की आजादी का खुद अनुभव पाने की लालसा अधूरी ही रहेगी।

बचपन में अपने नौकरो द्वारा खींची हुई सफेद खड़ी लाइनों के भीतर रहकर जिस जानने की इच्छा से मैं बाहरी दुनिया को देखता रहता था, उसी इच्छा से अपनी इस जवानी में भी इन्सानी दुनिया की ओर देखता था। ये बातें यद्यपि मुझे कभी तो मिलने वाली, कभी न मिलने वाली और कभी मुझसे दूर रहने वाली लगी, तो भी यदि आपसे नाता न जुडा, उनके द्वारा कभी हवा की लहरें पैदा न हुई उनका बहाव बहने न लगा और यात्रियों के आने-जाने लायक वहां रास्ता न हुआ तो फिर हमारे चारों ओर इकट्ठी मृत चीजें कभी दूर न होंगी और उनका एक बडा भारी ढेर हो जायेगा, जिसके नीचे हमारी जिन्दगी बिना कुचले न रहेगी।

बरसात में सिर्फ काले बादल आसमान में जमा हो जाते हैं और फिर पानी गिरने लगता है। शरद् के आसमान मे बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं, लेकिन पानी नही गिरता और एक तरह से यह ठीक भी होता है, क्योंकि फसल आने का वक्त होता है। *यही बात मेरी कविता के बारे में भी कही जा सकती है।* कविता लिखने की जिन्दगी में जब वर्षा का राज था, तब खयालाती भाव के सिवाय उस समय मेरे पास कुछ नही था। खयाली बादल जमते और तेज बरसात होने लगती। उस समय मैं जो कुछ लिखता वह अस्पष्ट होता और मेरी आजादी से घूमा करती। परन्तु मेरे कवि की जिन्दगी के शरद ऋतु में रचे हुए, 'कडी ओ कोमल' नाम के पद-सग्रह के बारे में ऐसा कहा जा सकेगा कि आसमान बादलों से ढका था और जमीन पर फसल आती हुई दिखलाई पडती थी। उस समय असली दुनिया से मैं जानकारी कर रहा था। इन्ही दिनो मेरी भाषा और छन्दों ने अनेक रूप लेना चाहा था।

इस तरह मेरी जिन्दगी की किताब का दूसरा हिस्सा पूरा हुआ। अब भीतर-बाहर के इकट्ठे होने के 'जानकार से अजानकार' का मेल करा देने के दिन चले गये। अब मुझे अपनी जीवन-यात्रा इन्सानों के निवास स्थान में रहकर पूरी करनी है। इस यात्रा में मिलने वाली भली-बुरी बातों या सुख-दुःख के बारे में कारण रहित होकर तसवीर की तरह देखने वाला बनने से काम नही चलेगा। अब तो गहराई से सोचना होगा। एक ओर नई-नई बातें पैदा हो रही हैं, और दूसरी ओर कुछ बातें मिटती जा रही हैं। एक ओर जय के बाजे बज रहे हैं, दूसरी ओर मुंह पर बदनामी की कालिख छा रही है। एक ओर आपसी झगड़े बढ रहे हैं, तो दूसरी ओर मन

के मिलने से ग्रानन्द छा रहा है। इस तरह इस जिन्दगी में एक-दूसरे के खिलाफ कई तरह की वारदातें हर समय हो रही है।

जिन्दगी के ग्राखिरी रहस्य भरे लक्ष्य तक पहुंचने के रास्ते में ग्रगिन ग्रड-चनें, ग्रनेक दुश्मन ग्रौर मुश्किलें है। इन सभी के बीच में से मेरा रास्ता दिखाने वाला बड़े जोश ग्रौर चतुराई से मेरी मंजिल की ग्रोर मुझे ले जा रहा है। उस चतुराई का वर्णन करने की, उस रास्ते का नक्शा बनाने की ताकत मुझमे नहीं है। इस रास्ते की गहराई को जताने की ताकत मेरे में न होने से मैं इस बारे में यदि कोई तसवीर बनाऊंगा तो मुझे उम्मीद है कि उससे कदम-कदम पर वहम ही पैदा होगा। उस मूर्ति को बनाकर उसके ग्रलग-ग्रलग हिस्सों को दिखाने की कोशिश बेकार होगी। उसमें कामयाबी नही मिलेगी। हा, ऊपर की मिट्टी भले ही मिल जाय, पर भीतरी मिलन का ग्रानन्द ग्रपने को नही मिलेगा।

इसलिए मन के मदिर के दरवाजे तक ग्रपने पाठकों को पहुंचा कर ग्रब मैं उनसे विदा लेता हू।

□